शिवस्तोत्रावली

हिन्दीव्याख्योपेता

आचार्यश्रीकृष्णानन्दसागरः

शिवस्तोत्रावली

Shri Shivoham Sagara Granthamala's Fortineth Pushpa

ŚRI UTPALADEVĀCĀRYA'S

ŚIVASTOTRĀVALĪ

With the Sanskrit Commentary of

ŚRI KṢHEMARĀJĀCĀRYA

Published by

Sarvadarśanācarya

ŚRI KṚṢṆĀNANDA SĀGARA

Edited with Introduction with his own Hindi Commentary

STAVARANJANI

Under direction from

1008 Mahamandaleśwara

Śri Swāmi Akhaṇḍānanda Sāgara Māharāja

श्रीशिवोऽहंसागरग्रन्थमालया: चतुर्दशं पुष्पम्—

श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचिता

शिवस्तोत्रावली

श्रीक्षेमराजाचार्यकृतविवृत्युपेता

अनन्तश्रीविभूषित १००८ महामण्लेश्वर-
श्रीमदखण्डानन्दसागरमहाराजानां

निदेशेन
सर्वदर्शनाचार्यश्रीकृष्णानन्दसागरेण
स्वकृतया स्तवरञ्जनी
हिन्दीव्याख्यया सह सम्पाद्य
प्रकाशिता

भूमिका

श्री उत्पलदेव द्वारा प्रणीत यह 'शिवस्तोत्रावली' संस्कृत साहित्य की एक अद्वितीय कृति है। इस ग्रन्थ में भगवान् परमशिव की दिव्यस्तुति की गयी है। शैवाद्वैतशास्त्र के मौलिक सिद्धान्त के आधार पर उच्चकोटि की समावेशात्मक शिवभक्ति की पूर्णतया अभिव्यक्ति होती है। ये अपने जीवन काल में ही भक्ति की पराकाष्ठा के कारण समावेश भूमिका के उच्चतम शिखर पर पहुँच गये थे और इसी समय प्रस्तुत शिवसम्बन्धी स्तोत्रों की रचना हुई है, इन्हों अन्य ग्रन्थों के सदृश इस ग्रन्थ को नहीं लिखा है, अपितु एक समाहित दशा के आनन्द अतिरेक दशा में इसका लेखन-कार्य किया है, मौखिक कविता के रूप में श्लोकों को कहते जाते थे और उनके शिष्य लिखने जाते थे, अनन्तर आदित्यराज ने इन श्लोकों को क्रमबद्ध कर विभिन्न स्तोत्रों का रूप दिया, साथ ही आचार्य विश्वावर्त ने सारे पद्यों को बीस पृथक्-पृथक् स्तोत्रों में विभक्त किया और विषय दृष्टि से प्रत्येक स्तोत्र का नामकरण संस्कार किया। श्री राजानक क्षेमराज ने इसी 'शिवस्तोत्रावली' की वृत्ति में उक्त बातों का संकेत किया हैं।

इस में ग्रन्थकार ने प्रकरणरूप से लौकिक स्तोत्रों के रूप में शिवसमावेशमयी विमलभक्ति और उससे उपलब्ध परमानन्द का सजीव एवं भावोत्पादक चित्रण किया है। 'भवभूति' के शिखरणी पद्यों के समान, मयूरी की भाँति हमारे समक्ष सांगोपात्र रूप धारण कर नाच उठती है और हमें आनन्द सागर में आप्लावित कर देती है। यद्यपि सारे स्तोत्रों में शिव के गुणानुवाद है किन्तु प्रत्येक स्तोत्र में वर्णन की शैली विलक्षण है और एक से दूसरे में नवीनता देखने में आती है तथा सभी स्तोत्र एक दूसरे से भिन्न-भिन्न भी प्रतीत होते हैं। इस प्रकार अपनी विलक्षण प्रतिभा से स्तोत्र-कार ने एकता में अनेकता और अनेकता में एकता प्रदर्शित की है। इसमें कोई-कोई पद्य तो अत्यन्त कठिन भाषा में लिखा है जो वाणभट्ट की शैली का परिचारक देता है और कोई तो अत्यन्त सरल भाषा में है।

शैवदर्शन में उत्पलदेव का नाम प्रसिद्ध है शैवसिद्धान्त के 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' जैसे अनेकानेक विद्वतापूर्ण ग्रन्थों का इन्होंने उच्चकोटि में लेखन कार्य कर शैवागमशास्त्र को एक नूतन स्वरूप दिया है। ये श्रीसोमानन्दपाद के शिष्य थे, इनके पिता का

नाम उदयाकर और पुत्र का नाम विभ्रमाकर था, इसका जीवनकाल नवमीशताब्दी के उत्तरार्ध में माना जाता है।

श्री राजानक क्षेमराज द्वारा प्रणीत प्रस्तुत ग्रन्थ पर विवृत्ति पद्यों के रहस्य को अत्यधिक प्रकट करती है। ये कश्मीर शैवदर्शन के प्रसिद्ध श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्य के शिष्य थे। इन्होंने भी शैवाचार्यों की भाँति शैवाद्वैत दर्शन की अनुपम सेवा की है। अनेक ग्रन्थों पर व्याख्याएँ लिखी हैं। इनकी रचनाओं से अगाध पाण्डित्य तथा विलक्षण प्रतिभा झलकती है।

प्रस्तुत ग्रन्थरत्न शिवभक्तों के समक्ष रखते हुए हम अत्यन्त हर्ष का अनुभव कर रहे हैं। परमशिव की हम लोगों को चित्समावेशरूपिणी विमलभक्ति प्राप्त हो ऐसी हम सदैव भगवान् परमशिव से प्रार्थना करते हैं।

कृष्णानन्दसागरः

स्तोत्र-सूची

ॐ सच्चिदानन्दाय नमः

अथ

शिवस्तोत्रावली

प्रथमं स्तोत्रम्

श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचिता

श्रीक्षेमराजाचार्यविरचितविवृत्तिसमलङ्कृता

सर्वदर्शनाचार्य-श्रीकृष्णानन्दसागरकृत-हिन्दीव्याख्या-स्तवरञ्जनी

ॐ उद्धरत्यन्धतमसाद्विश्वमानन्दवर्षिणी ।
परिपूर्णा जयत्येका देवी चिच्चन्द्रचन्द्रिका ।।
अभ्यर्थितोऽस्मि बहुभिर्बहुशो भक्तिशालिभिः ।
व्याकरोमि मनाक् श्रीमत्प्रत्यभिज्ञाकृतः स्तुतीः ।।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारो वन्द्याभिधानः श्रीमदुत्पलदेवाचार्योऽस्मत्परमेष्ठी सततसाक्षात्कृतस्वात्ममहेश्वरः स्व रूपं तथात्वेन परामृष्टुमर्थिजनानुजिघृक्षया संग्रहस्तोत्रजयस्तोत्रभक्तिस्तोत्राण्याह्निकस्तुतिसूक्तानि च कानिचिन्मुक्तकान्येव बबन्ध । अथ कदाचित्तानि एव तद्वचामिश्राणि लब्ध्वा श्रीराम आदित्यराजश्च पृथक् पृथक् स्तोत्रशय्यायां न्यवेशयत् । श्रीविश्वावर्त्तस्तु विंशत्या स्तोत्रैः स्वात्मोत्प्रेक्षितनामभिर्व्यवस्थापितवानिति किल श्रूयते । तदेतानि संग्रहादि-स्तोत्राणि सूक्तान्येव प्रसिद्धवार्तिकशय्योपारूढानि स्पष्टं व्याकुर्मः ।

मोक्षलक्ष्मीसमाश्लेषरसास्वादमयस्य परमेश्वरसमावेशस्यैव परमोपा-देयतां दर्शयितु परमेशस्वरूपाविभिन्नतत्समाविष्टभक्तजनस्तुतिक्रमेण स्तोत्रमाह —

न ध्यायतो न जपतः स्याद्यस्याविधिपूर्वकम् ।
एवमेव शिवाभासस्तं नुमो भक्तिशालिनम् ।। १ ।।

भगवान् परमशिव का ज्ञानप्रकाश बिना ध्यान-प्राणायाम आदि योग से, बिना जप से और यज्ञ-अध्ययन आदि विधि के बिना ही जिस भक्त को प्राप्त हो

गया है। इस प्रकार उस भक्ति-भावना से आप्लावित भक्तहृदय की हम स्तुति करते हैं। १॥

यस्य एवमेव—मायीयोपायं विना, शिवाभासः—शिवरूपस्वात्मप्रथा स्यात्, तं, भक्त्यैव—समावेशमय्या शालिनं—श्लाघमानं न तु तदतिरिक्त-फलाकांक्षाकलङ्कितं भक्तजन, नुमः—भक्तिचमत्कारवशप्रथितशिवभट्टारका-भेदभक्तिसन्नतिमुखेन तदभिन्नशिवावेशमया भवाम इति यावत्। 'एवमेव'—इत्यनेन सूचितमलौकिकक्रमं दर्शयति—'न ध्यायत' - इत्यादिना। सर्वस्य हि ध्यानजपप्रमुखं ध्येयजप्यस्वरूपं नियताकारमेव प्रथते, भक्तिशालिनस्तु अनुपायमेव निराकार सर्वाकार चिदानन्दघनं शिवात्मस्वरूप सर्वदा स्फुरति। अत एवाह—'अविधिपूर्वकम्'—इति। विधीयत इति विधिरिज्यध्यानादिः पूर्वं कारणं यत्र, तथा कृत्वा सर्वविधीनां सकुचितत्वादसकुचितस्वरूपं प्रत्युपायत्वाभावात् तत्त्वसमावेशधनैरेव प्रतिभाप्रसादनप्रमुखमवाप्यते। यथोक्तं श्रीपूर्वशास्त्रे—

"न चात्र विहितं किञ्चित्......।" मा० वि०, अ० १८, श्लोकः ७७।
इत्यादि
"अकिञ्चिच्चन्तकस्य........।" मा० वि०, अ० २, श्लोकः २३।
इत्यादि। गीतास्वपि—
"मय्यावेशमनो ये मां............।" अ० १२, श्लोकः २।

इत्यादिकम्। ध्यानजपाभ्यां प्रकाशविमर्शस्वरूपाभ्यां पूजनहवनादि सर्वं संगृहीतमिति प्राधान्यात्तावेवेहोक्तौ ॥ १ ॥

आत्मा मम भवद्भक्तिसुधापानयुवाऽपि सन्।
लोकयात्रारजोरागात्पलितैरिव धूसरः ॥ २ ॥

हे महेश्वर ! यद्यपि मेरी आत्मा आप परमशिव की दिव्यभक्ति के सुधारस का आस्वादन करने से निरन्तर तरुणावस्था को प्राप्त होकर प्रस्फुटित रहती है, तथापि यह लोकयात्रा—लोकव्यवहाररूपी धूलि के उपराग के कारण श्वेतकेशों से धूसरित वृद्धावस्था-सी प्रतीत होती है ॥ २ ॥

हे महेश्वर ! मम आत्मा—जीवो भवद्भक्तिसुधापानेन युवा—समुत्ते-जितसहजोज.प्रकर्षोऽपि सन्, लोकयात्रयैव रजसा—लोकव्यवहारधूल्या कृतो यो रागः—उपरागस्ततो हेतोर्यानि पलितानि—जराप्रकारास्तैः धूसरः—विच्छाय इव, न तु वस्तुवृत्तेन, भक्तिसुधापानेन नित्यतरुणीकृतत्वात्। यथा च तरुणस्य धूलिधूसरतया सञ्जातपलितमिव दृश्यमानं नान्तर्म्लानिं मना-

गप्यादधाति, अपि तु विनोदहासरसचमत्कारमेव पुष्णाति तथा लोकव्यवहारो ममेति रूपकोपमया ध्वनति। पूर्वश्लोके आमन्त्रणपदाभावाद्भवद्भक्तोति न सङ्गतमेव, इति कथमियं स्तोत्रशय्या ? इति श्रीविश्वावर्त एव प्रष्टव्यः, वयं तु सूक्तव्याख्यानोद्यताः ॥ २ ॥

लब्धत्वत्संपदां भक्तिमतां त्वत्पुरवासिनाम् ।
सञ्चारो लोकमार्गेऽपि स्यात्तयैव विजृम्भया ॥ ३ ॥

जिनको आपकी भक्ति-ऐश्वर्यरूपी सम्पदा प्राप्त हो चुकी हो, इस प्रकार आप भगवत्स्वरूप की संवित्प्रकाशात्मक नगरी में निवास करनेवाले भक्तजनों का जो लोकमार्ग—व्युत्थानदशा में व्यवहार देखा जाता है वह सब स्वतः चित्स्वरूप के प्रकाश से सम्पन्न हो जाता है ॥ ३ ॥

ये समावेशमयप्रशस्तभक्तियुक्ताः, अत एव लब्धत्वत्संपदः त्वत्पुरे—विश्वपूरके त्वत्स्वरूपे वसन्ति, तच्छीलाः, तेषां लोकमार्गे अपि यः सञ्चारः—व्यवहारः, स तयैव—समावेशरसानन्दमय्या, विजृम्भया—विकस्वरतया, स्यात् —भवत्येव। अथ च ये लब्धलौकिकश्रियः त्वद्भक्ताः त्वन्मण्डलवासिनः, ते सर्वे स्पृहणीयत्वात् सदा विभूतिमुदिताः, इति समासोक्त्या गमयति ॥ ३ ॥

साक्षाद्भवन्मये नाथ सर्वस्मिन् भुवनान्तरे ।
किं न भक्तिमतां क्षेत्रं मन्त्रः क्वैषां न सिद्ध्यति ॥ ४ ॥

हे नाथ ! परमार्थतः प्रत्यक्षरूप में प्रसिद्ध आपके संवित्प्रकाशरूप इस समग्र भुवनमण्डल में भक्तजनों के लिये परसिद्धि समुदयस्थानरूप पावन क्षेत्र कैसे नहीं हो सकता है एवं इन भक्तजनों का उपासनीयमननत्राणरूपी मन्त्र कहाँ सिद्ध होता नहीं देखा गया है ? ॥ ४ ॥

भक्तिमतां—व्याख्यातरूपभक्तिशालिनां सर्वत्र भुवनविषये किं न क्षेत्रं—परसिद्धिसमुदयस्थानम्, क्व च येषां मननत्राणधर्मो मन्त्रो न सिद्ध्यति। यतः साक्षादिति समावेशदृष्ट्या न कथामात्रेण भवन्मयमेव सर्वं भुवनमेषाम् ॥ ४ ॥

जयन्ति भक्तिपीयूषरसासववरोन्मदाः ।
अद्वितीया अपि सदा त्वद्वितीया अपि प्रभो ॥ ५ ॥

हे भगवन् ! आपकी भक्तिसुधारूपी सर्वोत्तम आसव का आस्वादन कर, जो लोग उन्मत्त हो जाते हैं एवं सदैव अलौकिक चित्स्वरूप वाले होते हुए आपके तुल्य सर्वकर्तृत्व-सर्वज्ञातृत्व से युक्त हो जाते हैं, उन भगवद्भक्तों की जय हो ।। ५ ।।

भक्तिपीयूषरस एव आसववरः—उत्कृष्टं पानं, तेन उद्गतहर्षाः ये ते जयन्ति—सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते । कीदृशाः ? अद्वितीयाः—असाधारणस्वरूपा अपि त्वद्द्वितीयाः—त्वमेव द्वितीयस्तुल्यरूपो येषाम् । अथ च त्वद्द्वितीया अपि—भक्तिसमावेशेनात्यन्तमभेदासाधनत्वात् त्वमेव द्वितीयः—प्रभुत्वेन परिशीलितो येषां, तथाभूता अपि अद्वितीयाः—विश्वाभेदिनः । अद्वितीयाश्च कथं त्वद्द्वितीयाः त्वद्द्वितीयाश्च कथमद्वितीयाः ?—इति विरोधच्छाया ।। ५ ।।

अनन्तानन्दसिन्धोस्ते नाथ तत्त्वं विदन्ति ते ।
तादृशा एव ये सान्द्रभक्त्यानन्दरसाप्लुताः ।। ६ ।।

हे नाथ ! भक्तिभाव से परिपूर्ण हुए लोग ही आपके असीमित आनन्दसिन्धु के सारतत्त्व को भलीभाँति जानने में समर्थ होते हैं; इसलिए कि आपके समान असीम आनन्दसमुद्र हैं और अगाध भक्तिभावनारूपी चिदानन्द चमत्कारसंस्काररस से आप्लावित हैं ।। ६ ।।

भक्त्यानन्दरसः—समावेशानन्दप्रसरस्तेन आप्लुताः—आर्द्राशयाः । अत एव तादृशा इति—अपरिमितानन्दरससमुद्रत्वात् त्वद्रूपसरूपाः तव तत्त्वं जानन्ति । यो हि यत्र विद्वान् स हि तद्वेत्त्येव ।। ६ ।।

त्वमेवात्मेश सर्वस्य सर्वश्चात्मनि रागवान् ।
इति स्वभावसिद्धां त्वद्भक्तिं जानञ्जयेज्जनः ।। ७ ।।

हे परमेश्वर ! आप परमशिव ही सारे भूत-प्राणियों की अन्तरात्मा हैं और आप ही सबकी अन्तरात्मा में स्पृहा-प्रगाढ अनुराग भी रखते हैं । इसलिये आप चिदात्मा में जो स्वतः सिद्ध निर्मल भक्ति को जानता है, उस भक्तहृदय की जय हो ।। ७ ।।

सर्वस्तावदात्मने स्पृहयालुः वस्तुतस्तु त्वमेव चिद्रूपोऽस्यात्मा इति । अतस्त्वय्यात्मनि स्वतःसिद्धा भक्तिः, केवलं समावेशयुक्त्या यदि तां जानाति तज्जयेत्—सर्वोत्कर्षेण वर्तत एव । नियोगे लिङ् ।। ७ ।।

नाथ वेद्यक्षये केन न दृश्योऽस्येककः स्थितः ।
वेद्यवेदकसंक्षोभेऽप्यसि भक्तैः सुदर्शनः ।। ८ ।।

हे करुणाकर शिव ! आन्तरदशा में वेद्य-वस्तुओं की निवृत्ति हो जाने पर एकाकी अपने स्वात्मस्वरूप में समाहित हुए किस योगी के द्वारा आप अनुभूति का विषय नहीं हो जाते हों ॥ ८ ॥

अन्तर्मुखावस्थायां सर्ववेद्योपशमे कस्य नाम स्वात्मरूपस्त्वं केवलो न स्फुरसि। भक्तैः पुनः संसारसंपातेऽपि वेद्यवेदकसंक्षोभे असि—त्वं सुदर्शनः—सुखेन दृश्यसे। समावेशकाष्ठाधिवासितैर्हि सततमेतैः—

"भोक्तैव भोग्यरूपेण सदा सर्वत्र संस्थितः ॥" स्पं० नि० ३, श्लोकः २। इति स्पन्दशास्त्रोक्तनीत्या शिवमयमेव विश्वमीक्ष्यते। वेद्यविलापनप्रयास-व्युदासाय सुशब्दः। तदुक्त श्रीपूर्वशास्त्रे—

"मोक्षोपायमनायासलभ्यम्" (?) इति ॥ ८॥

अनन्तानन्दसरसी देवी प्रियतमा यथा।
अवियुक्तास्ति ते तद्वदेका त्वद्भक्तिरस्तु मे ॥ ९ ॥

हे परमशिव ! जिस प्रकार अपरिमित आनन्दरस से युक्त आप शिव में अपनी पराशक्ति प्रियतमा देवी सदैव अभिन्नतया अवस्थित रहती है। इसी प्रकार चिदानन्द सार चमत्काररूपिणी आपकी निर्मल भक्ति मुझ किंकर में सदैव अभिन्नरूप से रहे ॥ ९ ॥

उपमाश्लेषोक्त्या परमेश्वरसाम्यमाशास्ते। भक्तिपक्षे देवी—द्योतमाना एकत्र फलाकांक्षाविरहिता, अपरत्र क्रीडादिशीला परैव शक्तिः। अहं भक्त्या अवियुक्तः स्याम् – इति वक्तव्ये, मम अवियुक्तास्तु—इति भक्तिं प्रति प्रेमप्रसरः प्रकाशितः ॥ ९ ॥

सर्व एव भवल्लाभहेतुर्भक्तिमतां विभो।
संविन्मार्गोऽयमाह्लाददुःखमोहैस्त्रिधा स्थितः ॥ १० ॥

हे सर्वव्यापक देव ! सुख, दुःख और मोह के हेतु इन तीन प्रकार से उपलक्षित लोक में जो समस्त त्रिगुणात्मक संविन्मार्ग-नीलपीतादि अवबोधरूप परमार्थ का पथ देखा जाता है। वही भक्तजनों के लिये चिद्रूप की प्राप्ति में एकमात्र साधन है अर्थात वेद्य-सोपाननिमज्जन क्रम से स्पन्दात्मक परमवेदक-भूमि की प्राप्ति में हेतु होता है ॥ १० ॥

व्याख्यातप्रकृष्टभक्तिशालिनाम् अयमाह्लाददुःखमोहैरुपलक्षितो लोके यः संविन्मार्गः-नीलपीतादिबोधरूपः पन्थाः स्थितः, स सर्व एव त्वत्प्राप्तिहेतुः-वेद्यसोपाननिमज्जनक्रमेण परमवेदकभूमिलाभात् ॥ १० ॥

भवद्भक्त्यमृतास्वादाद्बोधस्य स्यात्परापि या ।
दशा सा मां प्रति स्वामिन्नासवस्येव शुक्तता ॥ ११ ॥

हे स्वामिन् ! यद्यपि आप परमेश्वर के भक्तिसुधारस आस्वादन की प्राप्ति किये बिना ज्ञान की जो प्रकृष्टा-शान्तशिवपदात्मदशा भी किसी प्रकार सुलभ हो जाये, तो भी वह मेरे लिये मदिरा के समान खट्टी-नीरस ही है अथवा आपकी भक्तिरूपी सुधारस की आस्वादन से भी यदि सर्वोत्तम स्थिति प्राप्त हो जाती है तो भी वह मेरे अकिंचित्कर ही है ॥ ११ ॥

हे स्वामिन् त्वच्छक्तिपातसमावेशमयभक्त्यानन्दास्वादमनासाद्य बोधस्य परा—देहपातप्राप्त्या प्रकृष्टा अपि या शान्तशिवपदात्मा दशा स्यात्—कैश्चित् सम्भाव्यते सा तैः सम्भाव्यमाना मां प्रति आसवस्य यथा शुक्तता—पर्युषितता तथा भातीति यावत् । यतस्तैर्भक्त्यमृतमनास्वाद्यैव शुक्तीकृतम् । यैः पुनरास्वाद्यते तैः स्वचमत्कारानन्दविश्रान्तीकृतत्वात् का शुक्ततासम्भावना । अस्वादादिति ल्यब्लोपे पञ्चमी । अथवा त्वद्भक्त्यमृतास्वादादपि परा—मोक्षरूपा या कचिद्दशा अस्तीति-सम्भाव्यते सा मह्यं न रोचते—भक्त्यमृतास्वादस्यैव निरतिशयचमत्कारवत्त्वात्, इत्येवं परमेतत् ॥ ११ ॥

भवद्भक्तिमहाविद्या येषामभ्यासमागता ।
विद्याविद्योभयस्यापि त एते तत्त्ववेदिनः ॥ १२ ॥

जिन्हें आप परमशिव की भक्तिरूपी महाविद्या-ब्रह्मविद्या का अभ्यास प्राप्त हो गया है, वे ही भक्तहृदय शिव-सदाशिव-मन्त्रमहेश्वर-मन्त्रेश्वरात्मक ब्रह्मविद्या और विज्ञानाकल-प्रलयाकल-सकल प्रमातृसम्बन्धी अविद्या का यथार्थतत्त्व जाननेवाले होते हैं ॥ १२ ॥

विद्याविद्योभयस्यापि—इति विद्याविद्यालक्षणस्योभयस्य । तत्र शिवमन्त्रमहेश्वरमन्त्रेश्वरमन्त्रात्मनो विद्यारूपस्य, विज्ञानाकलप्रलयाकलसकलतद्भेद्यात्मनश्च अविद्यारूपस्य उभयस्यापि ते तत्त्वं विदन्ति, येषां त्वद्भक्तिरेव महाविद्या प्रकर्षं प्राप्ता । महत्पदेन शब्दविद्यातोऽपि भक्तेरुत्कर्षात्तत्तत्त्ववेदकत्वम् ॥ १२ ॥

आमूलाद्वाग्लता सेयं क्रमविस्फारशालिनी ।
त्वद्भक्तिसुधया सिक्ता तद्रसाढ्यफलास्तु मे ॥ १३ ॥

परावाक् भूमि से लेकर (पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरीपर्यन्त) क्रमशः प्रकर्षतया विकास को प्राप्त हुई वही यह मेरे लिये आप परमशिव की भक्तिरूपी सुधारस से सींची हुई चिदानन्द चमत्काररूपी वाग्लता अत्यन्त सुमधुर परिपक्व फलों से युक्त हो ॥१३॥

मूलं—परा भूमिः। क्रमविस्फारित्वं—पश्यन्त्यादिप्रसरः। तद्रसो—भक्त्यानन्दरस एव आढ्यं—स्फीतं त्वदात्म्यैक्यापत्तिलक्षणं फल यस्याः ॥१३॥

शिवो भूत्वा यजेतेति भक्तो भूत्वेति कथ्यते।
त्वमेव हि वपुः सारं भक्तैरद्वयशोधितम् ॥ १४ ॥

शिव होकर शिव की उपासना करनी चाहिये। ऐसी जो वेदों में विधि कही जाती है, उस स्थल में भक्त होकर भगवान् परमशिव की उपासना करनी चाहिये। इसी विधि का अनुसरण भक्तों द्वारा कहा जाता है और यह कथन सर्वथा युक्तियुक्त भी है; जब कि परमार्थ संविद्वपु आप परमशिव भक्तों के द्वारा ही सैंकड़ों भेदशङ्का के शंकुओं से शोधित-परिष्कृत अद्वैतभावना से पाये जाते हैं ॥ १४ ॥

इति यदाम्नायेषूच्यते, तत्र देहपात एव शिवता—इति ये मन्यते, तेषां सति देहे शिवीभावाभावाद्यजमानतानुपपत्तेः स्वस्वरूपशिवसमावेशभक्तिशाली एव यजनं जानातीति तात्पर्यम्। अनेनैवाशयेनाह—त्वमेव यतः सारम्—उत्कृष्टं वपुः—स्वरूपम् अद्वयेन-भेदशङ्काशङ्कुशतशातिना शोधितं—निर्मलीकृत भक्तैरिति ॥ १४ ॥

भक्तानां भवदद्वैतसिद्ध्यै का नोपपत्तयः।
तदसिद्ध्यै निकृष्टानां कानि नावरणानि वा ॥ १५ ॥

हे परमेश्वर! भक्तों के निमित्त आप परमशिव की अद्वैतसिद्धि में हेतुरूप कौन-सी युक्तियाँ साधन नहीं बन जाती हैं अथवा अद्वैतस्वरूप की असिद्धि के निमित्त भेदमय निकृष्ट पामर जीवों के लिए कौन-सी मोहान्धकार में डालने वाली युक्तियाँ नहीं देखी जाती हैं? ॥ १५ ॥

व्याख्यातानां भक्तानां भवदद्वयसाधनाय का न युक्तयः, यतो मूढैरुदीर्यमाणान्यपि शिवाद्वयदूषणानि दूषयितृस्वभावचिद्रूपशिवस्वरूपसिद्धिं विना न कानिचित्स्युरिति युक्त्या भक्तानां साधनान्येव पर्यवस्यन्ति। निकृष्टानां तु भेदमयानां तदसिद्ध्यै—शिवाद्वयसाधनाभावाय कानि नावरणानि—तीक्ष्णतमयुक्त्यस्त्राण्यपि समावेशरसविप्रुषोऽपि, अनभिज्ञत्वादसञ्चेत्यमानानि महान्धकारपातयितॄण्येव ॥ १५ ॥

कदाचित्क्वापि लभ्योऽसि योगेनेतीश वञ्चना ।
अन्यथा सर्वकक्ष्यासु भासि भक्तिमतां कथम् ॥ १६ ॥

हे स्वामिन् ! कदाचित् समाधिकाल में कहीं हृदयचक्रादि स्थानविशेष में चित्तवृत्ति निरोधात्मक योगाभ्यास द्वारा आपका संवित्प्रकाश चित्स्वरूप उपलब्ध किया जा सकता है; जबकि इस प्रकार से आपके चित्स्वभाव का साक्षात्कार करना वञ्चनामात्र ही है अन्यथा सभी समावेश और व्युत्थान दशा में भी आपका स्वयं-प्रकाशस्वरूप भक्तजनों के समक्ष कैसे प्रकट होगा ? ॥ १६ ॥

कदाचित् - कस्यांचित् समाधिदशायां, क्वापि हृदयचक्रादौ, योगेन — चित्तवृत्तिनिरोधेन, ईश —स्वामिन्, असि —त्वं लभ्यः, इत्येषा वञ्चना, अन्यथा समाधिव्युत्थानाद्यभिमतासु कक्ष्यासु कथं भक्तिमतां प्रकाशसे ॥ १६ ॥

प्रत्याहाराद्यसंस्पृष्टो विशेषोऽस्ति महानयम् ।
योगिभ्यो भक्तिभाजां यद्व्युत्थानेऽपि समाहिताः ॥ १७ ॥

भगवद्भक्ति के रसास्वादन में लगे हुए यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधिरूप अष्टाग योग की प्रक्रिया से सम्बन्ध रखने वाले भक्तजनों के लिये यह अत्यन्त उपयोगिता है कि व्युत्थानकाल में भी ये लोग समाहित रहते हैं । जैसा कि गीता में कहा है—मुझ वासुदेव परमात्मा में जो लोग अपना चित्त स्थिर करते हैं ॥ १७ ॥

विषयेभ्य इन्द्रियाणां प्रत्यावृत्य नियमनं प्रत्याहारः । आदिशब्दाद्ध्यानधारणादयः, तैरसंस्पृष्टः —अकदर्थितः, तन्निष्ठेभ्यो योगिभ्यो महान् — असामान्यः, विशेषः - अतिशयो भक्तिभाजामस्ति यदेते योग्यपेक्षया व्युत्थानाभिमतेऽपि समये समाहिताः -

"मय्यावेश्य मनो ये माम्..........।" अ० १२, श्लोकः २ ।
इति श्रीगीतोक्तनीत्या नित्ययुक्ताः ॥ १७ ॥

न योगो न तपो नार्चाक्रमः कोऽपि प्रणीयते ।
अमाये शिवमार्गेऽस्मिन् भक्तिरेका प्रशस्यते ॥ १८ ॥

मायातीत निरतिशय अपने अनुभव-प्रमाण से गम्य शिवमार्ग में अर्थात् परशाक्त-सम्प्रदाय में न योगाभ्यास, न तप और न किसी पूजाक्रम का ही विधान है, इस शैव-सम्प्रदाय में भगवान् परमशिव की निर्मलभक्ति ही मोक्षधर्म की प्राप्ति में उपाय-साधनरूप से कही जाती है ॥ १८ ॥

शिवमार्गे—परे शाक्ते पदे। अस्मिन्निति—निरतिशये स्वानुभवैक-साक्षिके मायीयनियतयोगाद्युपायपरिपाटी न काचिदुपदिश्यते। तस्याः मायामयत्वेन अन्धतमसप्रख्यायास्तत्र शुद्धविद्याप्रकाशातिशायिनी उपायत्वाभावात् भक्तिरेव—प्रतिभाप्रसादनात्मा उक्तचरी प्रशस्यते—उपायत्वेनोच्यते ॥ १८ ॥

सर्वतो विलसद्भक्तितेजोध्वस्तावृतेर्मम ।
प्रत्यक्षसर्वभावस्य चिन्तानामापि नश्यतु ॥ १६ ॥

आन्तर और बाह्य देश में सर्वत्र विकसित होनेवाले भक्तितेजरूपी समावेश प्रकाश से जिस का अज्ञानतम निवृत्त हो गया है। अत एव मायीयभेदप्रथारूपी भूमि की विस्मृति हो जाने से सारी भावराशि का भैरवी मुद्रा द्वारा यथार्थरूप से दर्शन करने वाले मुझ साक्षी की चिन्ता-विकल्पवृत्तियों का नाम भी मिट जाय अर्थात् मैं सब बाह्य वृत्तियों का परित्याग कर सदैव परमभैरव के स्वरूप में समाहित हो जाऊँ ॥ १६ ॥

अन्तर्बहिश्च विलसता जृम्भमाणेन भक्तितेजसा—समावेशप्रकाशेन ध्वस्ता आवृतिः अख्यातिर्यस्य। तत एव मायीयभूमिविस्मृतेः प्रत्यक्षाः—भैरवमुद्राप्रवेशयुक्त्या आलोचनमात्रगोचरीभूताः सर्वे भावाः यस्य तस्य मम चिन्तायाः—विकल्पव्रातस्य नामापि—अभिधानमपि नश्यतु - नित्यमेव साक्षात्कृतपरभैरवस्वरूपानुप्रविष्टो भूयासमित्यर्थः। १६॥

शिव इत्येकशब्दस्य जिह्वाग्रे तिष्ठतः सदा ।
समस्तविषयास्वादो भक्तेष्वेवास्ति कोऽप्यहो ॥ २० ॥

बड़े आश्चर्य की बात यह है कि निरन्तर परामर्शात्मक स्वात्वस्वरूप 'परम शिव' इस शब्द का जिह्वा अग्रभाग से उच्चारण करने मात्र से ही सारे शब्दादि पञ्चविषयों का विलक्षण रसास्वादन अर्थात् जगदानन्दरूपी रस चमत्कार का भक्तजनों में संचार होने लगता है ॥ २० ॥

उक्तेष्वेव भक्तेषु यो महाप्रकाशमयनिजस्वरूपपरामर्शात्मा शिव इति एकः - असामान्यः सदा शब्दोऽस्ति। अहो आश्चर्यं तस्य शब्दमात्रस्यापि एकस्य विषयस्य परमानन्दव्याप्तिदायित्वात् समस्तविषयास्वादः—जगदानन्द-चमत्कारः, कोऽपि - स्वानुभवसिद्धोऽस्ति। एकत्र च शब्दलक्षणे विषये जिह्वाग्रवर्तिनि समस्तविषयास्वाद इति विरोधच्छाया ॥ २० ॥

शान्तकल्लोलशीताच्छस्वादुभक्तिसुधाम्बुधौ ।
अलौकिकरसास्वादे सुस्थैः को नाम गण्यते ।। २१ ।।

जिसकी विकल्परूपी तरंगें शान्त-निवृत्त हो गयी हैं और जो व्यक्ति शीतल-स्वच्छ एवं सुमधुर भक्तिसुधारस सागर में अद्वितीय तत्त्व का रसास्वादन करने में अर्थात् समावेशचमत्कार परमानन्दरसामृत का पान करने में सुखपूर्वक स्थित है। वह किसकी गिनती का विषय हो सकता है; क्योंकि अपने आत्मस्वरूप से भिन्न कुछ भी नहीं है, उसे यह सारा विश्व अपना ही विस्तार एवं वैभव दीख पड़ता है ।। २१ ।।

शान्ताः—निवृत्ताः विकल्पमयाः कल्लोला यत्र, तथाभूते। संसार-तापापहतत्वाच्छीते विश्वप्रतिबिम्बाश्रयत्वादच्छे—निर्मले। आनन्द-विकासित्वात् स्वादौ भक्त्यमृतसमुद्रे, अलौकिकरसास्वादे—समावेश-चमत्कारे, सुखेन तिष्ठन्ति सुस्थाः, तैः भेदगलनात् को नाम गण्यते; तदा व्यतिरिक्तस्य कस्यचिदप्यप्रतिभासात् सुखस्थिताः न किंचिद्गणयन्ति—इत्युचितैवोक्तिः ।। २१ ।।

मादृशैः किं न चर्व्येत भवद्भक्तिमहौषधिः ।
तादृशी भगवन्यस्या मोक्षाख्योऽनन्तरो रसः ।। २२ ।।

हे भगवन् ! मुझ किंकर जैसे भक्तितत्त्व को जानने वाले से आपकी भवरोग की निवृत्ति करने वाली अलौकिक भक्तिरूपी महान् औषधि का सेवन क्यों न किया जाय अर्थात् विचारपूर्वक आस्वादन करना चाहिये; जिससे कि चर्वणपरामर्श करने के साथ-साथ ही मोक्ष-जीवन्मुक्ति संज्ञक अपर रस-चर्वणानन्द की भी प्राप्ति हो जाती है ।। २२ ।।

मादृशैः—भक्तितत्त्वज्ञैः, तादृशी इति—अलौकिकी भवद्भक्तिरेव अभीष्टप्रदत्वान्महौषधिः, किं न चर्व्येत—किं न धार्येत—विचारेणास्वाद्येत इति यावत्। कीदृशी ? यस्याश्चर्वणपरामर्शानन्तरमेव जीवन्मुक्ताख्यः अनन्तरः—अव्यवहितो रसः—चर्वणानन्दः ।। २२ ।।

ता एव परमर्थ्यन्ते सम्पदः सद्भिरीश याः ।
त्वद्भक्तिरससम्भोगविस्रम्भपरिपोषिकाः ।। २३ ।।

हे परमेश्वर ! सज्जन लोग उन्हीं ऐश्वर्य सम्पदाओं की केवल आकांक्षा रखते हैं। किन्तु वे कदापि अणिमादि अष्टसिद्धि की इच्छा भी नहीं करते हैं। वे सम्पदाएँ कैसी हैं ? आपकी भक्तिरस संभोग—निर्मल भक्तिरूपी समावेश—रसामृतचमत्कारमय सप्रत्यय प्रसन्नता को ये ऐश्वर्य-सम्पदाएँ सब प्रकार से अभिवर्धित करती हैं ।। २३ ।।

सद्भिः—भक्तिशालिभिः, ता एवेति—असमत्वत्समावेशमय्यः, संपदः परं—केवलम् अर्थ्यन्ते न तु अणिमाद्याः। कीदृश्यः? याः त्वद्भक्तिरस-संभोगे—भवत्समावेशामृतचमत्कारे विस्रम्भं—स्वैरं स्वीकारं पुष्णन्ति। अत्र च प्रियासंभोगपोषिका एव सर्वस्य संपदोऽर्थनीयाः—इत्यनुरणव्यङ्ग्योपमाध्वनिः॥ २३॥

भवद्भक्तिसुधासारस्तैः किमप्युपलक्षितः।
ये न रागादिपङ्केऽस्मिँल्लिप्यन्ते पतिता अपि॥ २४॥

हे प्रभो! आप परमशिव की भक्तिसुधारूपी प्रचण्ड वेगवती वर्षा भक्तजनों के द्वारा अपने हृदय-प्रदेश में लोकोत्तररूप से साक्षात् अनुभव का विषय बन जाती है। यद्यपि ये लोग व्युत्थानदशा में भी राग-द्वेषरूपी कीचड़ में फँसे हुए हैं, तो भी पुष्करपलाशवत् निर्लिप्त रहते हैं॥ २४॥

त्वद्भक्तिसुधाया आसारः—वेगवद्वर्षं, तैः—भक्तैः, किमपि—लोकोत्तरतया, उप—समीपे, लक्षितः—परिशीलितः। ये भक्ता व्युत्थाने—शरीरव्यवहारनान्तरीयकत्वेनायाते रागद्वेषादिकर्दमे पतिता अपि न लिप्यन्ते—न तन्मयीभवन्ति। कर्दमे पतिता न लिप्यन्ते इत्याश्चर्यम्॥ २४॥

अणिमादिषु मोक्षान्तेष्वङ्गेष्वेव फलाभिधा।
भवद्भक्तेर्विपक्वाया लताया इव केषुचित्॥ २५॥

अणिमा आदि स्थूल-भौतिक सिद्धियों से लेकर मोक्षसिद्धिपर्यन्त जो पूर्ववर्णित सिद्धियों का फलसम्बन्धी सविस्तार विचार प्रकट किया है, वे सब परिपक्वदशा को प्राप्त होकर आपकी भक्तिरूपी लता के ही किन्हीं अंगविशेष में रहती हैं, जब कि ये सारी सम्पदाएँ भक्तिरूपी लता के ही फल हैं, उनसे भिन्न कोई भी फल नहीं हो सकते हैं। जैसे आम्रादि फल उसके अंगरूप से ही देखे गये हैं॥ २५॥

अणिमादिषु मोक्षान्तेषु—स्थूल-परसिद्धिमयेषु वस्तुषु, या फलाभिधा—फलत्वेनोक्तिः, सा परिपाकं प्राप्तायाः भवद्भक्तेरेव अङ्गभूतेषु सत्सु तेषु, भक्तिर्हि रुद्रशक्तिसमावेशात्मा समस्तसंपन्मय्येव, न तु तद्व्यतिरिक्तानि फलानि कानिचित्सन्ति। यथा विपक्वलताविच्छिन्नानि न फलानि कानिचिद्—आम्रादीनि भवन्ति—तेषां तदङ्गत्वात्॥ २५॥

चित्रं निसर्गतो नाथ दुःखबीजमिदं मनः ।
त्वद्भक्तिरससंसक्तं निःश्रेयसमहाफलम् ।। २६ ।।

हे दिनकिंकर शिव ! बड़े आश्चर्य की बात यह है कि यह मनरूपी वृक्ष स्वाभाविक दुःख का कारण है । किन्तु जब उसे आपकी भक्तिसुधारस से सींच लिया जाता है, तो इसी मनरूपी वृक्ष में निःश्रेयस-जीवन्मुक्तिरूपी महाफल पकने लगते हैं । अतः आपकी निर्मलभक्ति का ही यह अद्भुत चमत्कार है ।। २६ ।।

इति सर्वदर्शनाचार्य-श्रीकृष्णानन्दसागरकृत-हिन्दीव्याख्या-स्तवरञ्जनी ।

हे नाथ—स्वामिन् ! इदं चित्रम्, दुःखकारणमिदं मनः सर्वस्य हेयं यदभिमतं, तदेव त्वद्भक्तिरसायनेन सिक्तं परमानन्दमयमोक्षमहाफलम् । न हि कदाचित् लोकं प्रति विषादेः मधुर आस्वादः । अतस्त्वद्भक्तेरेवायम् अलौकिकः क्रमः—इति ध्वनित इति शिवम् ।। २६ ।।

इति श्रीमदीश्वरप्रत्यभिज्ञाकाराचार्यचक्रवर्तिवन्द्याभिधानोत्पलदेवाचार्यविरचिते भक्तिविलासाख्ये प्रथमस्तोत्रे महामाहेश्वर-श्रीक्षेमराजाचार्यविरचिता विवृत्तिः ।

अथ

द्वितीयं स्तोत्रम्

अग्नीषोमरविब्रह्मविष्णुस्थावरजङ्गम-
स्वरूप बहुरूपाय नमः संविन्मयाय ते ॥ १ ॥

हे परमशिव ! आप अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, ब्रह्मा, विष्णु आदि स्थावर-जंगम के स्वरूप को धारण करते हैं। विश्वोत्तीर्णदशा में भी स्वज्ञानमहिमा में स्थित रहते हुए विश्वमयदशा में अनेकविध स्वरूप-आकार से विभक्त आपको हम नमस्कार करते हैं ॥ १ ॥

अग्नीषोमरविभिर्दाहाप्यायप्रकाशकारीच्छाक्रियाज्ञानरूपस्य शक्ति-त्रयस्य, ब्रह्मविष्णुभ्यामधिष्ठातृदेवतावर्गस्य, स्थावरजङ्गमाभ्यामधिष्ठितस्य प्रमेयप्रमातृराशेश्च स्वीकृतत्वाद्विश्वात्मनः आमन्त्रणमिदं स्वरूपेत्यन्तम्। तेन अग्नीषोमरविब्रह्मविष्णुस्थावरजङ्गमस्वरूप हे परमेश्वर! पञ्चभूतानि जङ्गमानामपि भूतदेहत्वात्। एवं च अग्निसोमसूर्यस्थावरजङ्गमैरष्टमूर्त्तितया, ब्रह्मविष्णूपलक्षिताशेषाधिष्ठातृतया विश्वमयत्वम्। अत एव बहुरूपायेत्युक्तम्। एवं विश्वरूपत्वेऽपि प्रधानमस्य स्वरूपमाह 'संविन्मयाय'—इति। एतदेव हि संविन्मयत्वं, यत्स्वातन्त्र्योल्लासिताशेषविश्वनिर्भरत्वम् ॥ १ ॥

विश्वेन्धनमहाक्षारानुलेपशुचिवर्चसे ।
महानलाय भवते विश्वैकहविषे नमः ॥ २ ॥

आत्मस्वरूप के परामर्श वल से विदग्ध विश्व-भेदराशि ईंधनरूपी भस्म-पुञ्ज का लेपन करने से अर्थात् संस्कारसंहार के विशुद्ध ज्ञानप्रकाश से युक्त सारे विश्वप्रपञ्च को ही आहुति के रूप में धारण करने वाले महानल—परमप्रमातृवह्निस्वरूप आप परमशिव को हम प्रणाम करते हैं ॥ २ ॥

भवते महानलाय—परप्रमातृवह्नये नमः। कीदृशाय ? विश्वस्य—भेदराशेरिन्धनरूपस्य सबन्धि यन्महाक्षारं-भस्म, तत्संहारशेषः संस्कारः, तेन यदनुलेपनम्—संस्कारसंहारेणापि प्रमात्रुत्तेजनं, तेन शुचि—शुद्धमद्वयरूपं वर्चस्तेजो यस्य तस्मै। अथ—

"शुचिर्नामाग्निरुदितः संघर्षात्सोमसूर्ययोः ।"

इत्यागमिकभाषया शुचिनाम्ने तेजसे। विश्वमेकं हविर्यस्येत्यनेन अत्यन्त-दीप्तत्वमुच्यते। श्रीमन्मताद्यागस्थित्या रहस्यचर्यार्थस्यात्र सूचनाद्विरोध-च्छायापि ॥ २ ॥

परमामृतसान्द्राय शीतलाय शिवाग्नये ।
कस्मैचिद्विश्वसंप्लोषविषमाय नमोऽस्तु ते ॥ ३ ॥

परमानन्दरसरूपी परमामृत से मृदु और मनोहर स्वरूप वाले, संसार के त्रिविधताप की निवृत्ति करने वाले होने से चन्द्रवत् शीतल, मायीय भेदप्रथा को तृणवत् जलाने में सक्षम होने से विषम अत्यन्त दारुण किसी विलक्षण शिवमय अग्नि-स्वरूप आपको हम लोगों का नमस्कार हो ॥ ३ ॥

चिदानन्दघनत्वात् परमामृतसान्द्रत्वम्। भवतापहारित्वाच्छीतलत्वम्। अग्नेश्च कथमार्द्रत्वशीतलत्वे इति विरोधाभासच्छाया। कस्मैचिदिति—अलौकिकस्वरूपाय ॥ ३ ॥

महादेवाय रुद्राय शङ्कराय शिवाय ते ।
महेश्वरायापि नमः कस्मैचिन्मन्त्रमूर्तये ॥ ४ ॥

हे परमशिव ! महान् देव, रुद्र, शङ्कर, कल्याणकर, महेश्वरस्वरूप किसी अलौकिक पूर्णाहं परामर्शात्मा मन्त्रमूर्ति आप शिव को हम नमस्कार करते हैं ॥ ४ ॥

देवः—सृष्टयादिक्रीडापरः, विश्वोत्कर्षशालितया विजिगीषुः, अशेष-व्यवहारप्रवर्तकः, द्योतमानः, सर्वस्य स्तोतव्यो गन्तव्यश्चः, दीव्यते क्रीडा-द्यर्थत्वात्। स च महान्—ब्रह्मादीनामपि सर्गादिहेतुत्वात्। विश्वस्य चित्पदे रोदनाद् द्रावणाच्च रुद्रः। पूर्णाहन्तापरामर्शमयत्वान्मन्त्रमूर्तिः ॥ ४ ॥

नमो निकृत्तनिःशेषत्रैलोक्यविगलद्वसा ।
वसेकविषमायापि मङ्गलाय शिवाग्नये ॥ ५ ॥

जो खण्ड-खण्ड की हुई अखिल ब्रह्माण्ड की पिघली हुई वसा-चरबी की आहुति जिसके ग्रहण करने से अत्यन्त विषम स्वरूप में बदल जाती है, अत एव वह अभद्र होती हुई भी कल्याणस्वरूप है, ऐसे शिवरूपी अग्नि को हम नमस्कार करते हैं ॥ ५ ॥

निकृत्तम्—अख्यातिलक्षणान्मूलात्प्रभृति खण्डशः कृतं भवाभवातिभवाख्यं यत्त्रैलोक्य, तत्संबन्धिनी बोधानलोद्दीपिनी आन्तररससाररूपा या वसा, तत्कृतो योऽवसेकः—आहुतिः, ततो विषमाय—अत्यन्तं जाज्वल्यमानाय, अत एव संसारामङ्गल्यपरिहृतिप्रदत्वात् मङ्गलाय शिववह्नये नमः—शरीरप्राणादिपरिमितप्रमातृपदं तत्रैव समावेशयामः, इत्यर्थः। सर्ववसावसेकविषमः श्मशानिकाग्निः कथं मङ्गल इति विरोधच्छाया ॥ ५ ॥

समस्तलक्षणायोग एव यस्योपलक्षणम् ।
तस्मै नमोऽस्तु देवाय कस्मैचिदपि शम्भवे ॥ ६ ॥

ज्ञान के हेतुभूत समस्त उच्चार, करण, ध्यान आदि लक्षणसमूह अर्थात् उपायों के साथ किसी भी प्रकार का न सम्बन्ध होना ही जिसका अति समीपस्थ स्वरूपज्ञापक लक्षण है अर्थात् हृदयङ्गमीकरण समस्त सांसारिक चिन्ताओं का विस्मरण होना ही उस चिद्रूप की प्राप्ति में हेतु है। अतः उस अद्वितीय देवाधिदेव परमशिव को हम नमस्कार करते हैं ॥ ६ ॥

समस्तानां लक्षणानाम्—अभिज्ञानानां च तथाविगमहेतूनामुच्चारकरणध्यानादीनां यः अयोगः—असम्बन्धः, स एव यस्य उप इति—आत्मसमीपे लक्षणं—हृदयङ्गमीकरणं—समस्तचिन्ताविस्मरणस्यैव तत्प्राप्तिहेतुत्वात्। अत एव कस्मैचिदिति सवृतिवक्रतया स्वात्मविस्फुरद्रूपायेति ध्वनति ॥ ६ ॥

वेदागमविरुद्धाय वेदागमविधायिने ।
वेदागमसतत्त्वाय गुह्याय स्वामिने नमः ॥ ७ ॥

वेदादि समस्त आगमशास्त्रों का विरोध करने वाले और वेदादि सकल शास्त्रों का विधान करने वाले तथा वेदादि सकल आगमशास्त्रों का साररूप वह परम ब्रह्म परमात्मा शिव सबके दृष्टि का विषय नहीं है। अत एव अतिगुह्यस्वरूप परमशिव को हम नमस्कार करते हैं ॥ ७ ॥

निःशेषनियमयन्त्रणात्रोटनालभ्यत्वाद्वेदविरुद्धः । यश्च यद्विरुद्धः स कथं तद्विधत्ते, तस्य च सतत्त्वरूपः, चिन्नाथस्तु स्वातन्त्र्यात् जगदुत्तिष्ठापयिषुर्वेदं विधत्ते, वेदान्तदृष्टया तत्परमार्थरूपश्च । अत एव सर्वस्य अविषयत्वाद्गुह्यः ॥ ७ ॥

संसारैकनिमित्ताय संसारैकविरोधिने ।
नमः संसाररूपाय निःसंसाराय शम्भवे ॥ ८ ॥

वह परमात्मा शिव मायातत्त्व से लेकर पृथिवीतत्त्व पर्यन्त सारे विश्वप्रपञ्च का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है, अत एव वह उस सबका विरोधी-संहर्ता है और विश्व के प्रत्येक रूप में आभासित भी होता है। चिद्रूप शिवतत्त्व से व्यतिरिक्त विश्व का अपना कोई स्वरूप नहीं है। इस प्रकार विश्वप्रपञ्च से ओतप्रोत रहते हुए भी सबसे असंस्पृष्ट पुष्करपलाशवत् उसका स्वरूप है। अतः विश्वोत्तीर्ण स्वरूप परम शिव को हम नमस्कार करते हैं ॥ ८ ॥

मायादेः क्षित्यन्तस्य संसारस्य एक एव निमित्तं, तस्य विरोधी—संहर्ता स एव। तथा संसाररूपतया भाति, न पुनश्चिद्रूपशिवव्यतिरिक्तं संसारस्य निजं रूपं किंचित्। एवमपि—संसारान्निष्क्रान्त—निःसंसारं तेन असंस्पृष्टरूपमिति विरोधाभासः ॥ ८ ॥

मूलाय मध्यायाग्राय मूलमध्याग्रमूर्तये।
क्षीणाग्रमध्यमूलाय नमः पूर्णाय शम्भवे ॥ ९ ॥

इस विश्वप्रपञ्च का मूलकारण, मध्यरूप से विद्यमान और चरमरूप में बने हुए अक्रमपूर्वक मूल, मध्य और अन्तिमस्वरूप में अवस्थित है। इस प्रकार परमार्थरूप से पूर्व, मध्य और मूलस्वरूप से शून्य अत एव परिपूर्ण परमानन्दस्वरूप आप शम्भुनाथ को हम नमस्कार करते हैं ॥ ९ ॥

विश्वस्य कारणत्वात् स्वरूपत्वाद्विश्रांतिस्थानत्वाच्च मूलं मध्यमग्रं च। यथा पृथक् मूलादिरूपः तथा युगपदपि अक्रमानन्तविश्वरूपत्वात्। न चास्य स्वात्मनि मूलादि किंचित् चिन्मात्रैकरूपत्वात्। अत एव सर्वसहत्वात् पूर्णः। विरोधाभासः प्राग्वत् ॥ ९ ॥

नमः सुकृतसंभारविपाकः सकृदप्यसौ।
यस्य नामग्रहः तस्मै दुर्लभाय शिवाय ते ॥ १० ॥

हे परमेश्वर! जिसका एक बार भी किया हुआ नाम-स्मरण लोकोत्तर पुण्यराशि का फल बन जाता है। उस अतिदुर्लभ कल्याणकर परमशिव को हम नमस्कार करते हैं ॥ १० ॥

यस्य सकृदेव नामग्रहः असाविति—लोकोत्तरः, पूर्णविश्रान्तिप्रदत्वात् पुण्यराशेः परिपाकः, तस्मै दुर्लभायेति—महायोगिगम्याय नमः ॥ १० ॥

नमश्चराचराकारपरेतनिचयैः सदा।
क्रीडते तुभ्यमेकस्मै चिन्मयाय कपालिने ॥ ११ ॥

हे विश्वनाथ ! समस्त जड-चेतनात्मक पदार्थाकृति के रूप को धारण करने वाले एवं जो परिमित चिन्मयभाव को प्राप्त हुए हैं उसके समूह के साथ सदैव क्रीडापरायणशील, खप्परों की माला धारण करनेवाले एक अद्वितीय सच्चिदानन्दरूप आप परमशिव को नमस्कार है ॥ ११ ॥

कपालिव्रतित्वं यद्भगवति प्रसिद्ध तत्तत्त्वतो व्यनक्ति। चराचराकाराः- जङ्गमस्थावररूपाः ये परेताः – परं चिन्मयस्वरूपमिता —प्राप्ताः । तद्विना च निर्जीवत्वादपि परेताः । तेषां निचयैः सदा युगपच्च क्रीडते—तत्संयोजन- वियोजनवैचित्र्यसहस्रविधायिने । ११ ॥

मायाविने विशुद्धाय गुह्याय प्रकटात्मने ।
सूक्ष्माय विश्वरूपाय नमश्चित्राय शम्भवे ॥ १२ ॥

जिसकी भेदोल्लासिता स्वातन्त्र्यशक्ति माया है, ऐसे वह मायावी विशुद्ध- स्वभाव प्रकाशघनस्वात्मस्वरूप सूक्ष्म-ध्यानादि साधनों के द्वारा भी अगम्य होते हुए भी अपनी स्वातन्त्र्यशक्ति से चित्रविचित्रतया विविध वस्तुसमूह को ग्रहण करनेवाले उस शम्भुनाथ को नमस्कार है ॥ १२ ॥

भेदोल्लासहेतुः—स्वातन्त्र्यशक्तिर्माया यस्यास्ति सः । चिद्रूपत्वादि- शुद्धः। मायावी—व्याजी च कथं विशुद्धः ? इति विरोधाभासः। एवमन्यत्र । गुह्यः—सर्वस्यागोचरः । प्रकटः– प्रकाशघनस्वात्मरूपः । सूक्ष्मो– ध्यानादि- निष्ठैरपि अलक्ष्यः । विश्वरूपः—स्वातन्त्र्याद्गृहीतविश्वाकारः अत एव चित्रो – विचित्र आश्चर्यरूपश्च ॥ १२ ॥

ब्रह्मेन्द्रविष्णुनिर्व्यूढजगत्संहारकेलये ।
आश्चर्यकरणीयाय नमस्ते सर्वशक्तये ॥ १३ ॥

हे परमेश्वर ! ब्रह्मा, विष्णु और इन्द्र आदि देवों के द्वारा सब प्रकार से सम्पन्न इस विश्व प्रपञ्च का संहारात्मक क्रीडा करनेवाले, अत एव विलक्षण कर्मों के सम्पादक-नियामक एवं जीवरूप से कर्मफल भोक्ता, समस्त शक्तिसम्पन्न आप परमशिव को हम नमस्कार करते हैं ॥ १३ ॥

ब्रह्मेन्द्रविष्णुभिः—सृष्टयधिष्ठतिस्थितिकरैः कथमपि निर्वाहितत्वात् यत् निर्व्यूढं - सपन्न जगत्, तस्य सर्वैः सन्धार्यमाणस्य संहारः क्रीडामात्रं यस्य । अत एव आश्चर्यकरणीयः। सर्वशक्तः—ब्रह्मादिदेवेन्द्राणामपि स्वकर्मणि एतदीयसंजिहीर्षाभावाभवमुखप्रेक्षित्वात् सर्वसामर्थ्ययुक्तो यस्तस्मै नमः ॥१३॥

तटेष्वेव परिभ्रान्तैः लब्धास्तास्ता विभूतयः ।
यस्य तस्मै नमस्तुभ्यमगाधहरसिन्धवे ।। १४ ।।

जिसके किनारों पर परिभ्रमण करनेवालों से भेदमयी अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त की जाती हैं। उस गहन-अगाध हररूपी सागर को नमस्कार हो अर्थात् समुद्र के तटों पर परिभ्रमण करनेवालों से मणि-मौक्तिकादि अनर्घ वस्तुएँ प्राप्त हुआ करती हैं। किन्तु जो लोग आन्तर विक्षेप से शून्य हैं, वे लोग ही महानिर्वाण को प्राप्त करते हैं । १४ ॥

तटेषु एव—मन्त्रमुद्राचक्रभूमिकादिज्ञानेषु चिद्रसप्रसरबाह्यभूमिषु परिभ्रान्तैः—

'पवनभ्रमणप्राणविक्षेपादिकृतश्रमाः ।
कुहकादिषु ये भ्रान्ता भ्रान्तास्ते परमे पदे ॥' ऊर्मिकौल तं० ।

इत्याम्नायस्थित्या अन्तःसारानासादनाद् भ्राम्यद्भिः । तास्ता इति—भेदमय्योऽणिमादिकाः । अगाधहरसिन्धवे इति—अपरिच्छेद्यान्तस्तत्त्वाय महेश्वरसमुद्राय । समुद्रस्य च तटेष्वेव ये भ्राम्यन्ति ते तन्मौक्तिकादि आप्नुवन्ति, ये तु अन्तर्विक्षेपक्षमा ते महानिर्वृतिप्रदममृतमपि अश्नन्तीति रूपकश्लेषेण ध्वनति ॥ १४ ॥

मायामयजगत्सान्द्रपङ्कमध्याधिवासिने ।
अलेपाय नमः शम्भुशतपत्राय शोभिने ।। १५ ।।

अपनी स्वातन्त्र्यशक्ति से मायामय स्वरूप को धारण किये हुए विश्वरूपी अत्यन्त सघन पङ्क के मध्य में रहने वाले निर्लिप्त शुद्धचिद्रूप शोभायमान शिवरूपी शतपत्र अर्थात् उस-उस संकोच-विकासात्मक अनन्तशक्तिदलरूपी कमल को नमस्कार हो ॥ १५ ॥

माया—चिन्मयत्वाख्यातिः, सैव प्रकृतं रूपं यस्य जगतः, तदेव सान्द्रः पङ्को—घनः कर्दमः, तन्मध्याधिवासनेऽपि—व्यापकत्वात् तद्व्याप्नुवतेऽपि अलेपाय—शुद्धचिदेकरूपाय । शम्भुरेव शतपत्रम् —अनन्तशक्तिदल तत्तत्संकोचविकासधर्मक कमल, तस्मै नमः। पङ्कमध्यस्थितेरपि अलेपता भगवतश्चिद्घनत्वेन तदसंस्पर्शादिति विरोधाभासः । १५ ॥

मङ्गलाय पवित्राय निधये भूषणात्मने ।
प्रियाय परमार्थाय सर्वोत्कृष्टाय ते नमः ।। १६ ।।

हे प्रभो ! मङ्गलस्वरूप, परमपवित्र, सबके निधिरूप भूषणों के भी भूषण, परमप्रिय, परमार्थरूप सर्वोत्कृष्ट आप शिव को नमस्कार हो ।। १६ ।।

मंगलेत्यादि स्पष्टम् । सर्वोत्कृष्टायेति सर्वत्र योज्यम् । येन येन मुखेन विचार्यंते तेन तेनोत्तमत्वं सर्वोत्कृष्टत्वात् ।। १६ ।।

नमः सततबद्धाय नित्यनिर्मुक्तिभागिने ।

बन्धमोक्षविहीनाय कस्मैचिदपि शम्भवे ।। १७ ।।

जो अपनी मायाशक्ति से विरचित विश्वप्रपञ्च में बँधे हुए नित्य पारमार्थिक मुक्ति का भागी है और बन्ध एवं मोक्ष से भी रहित है। इस प्रकार अद्वितीय शंभुनाथ को हम नमस्कार करते हैं ।। १७ ।।

भगवत एव बद्धमुक्तया अवगमात्तथात्वम् । वस्तुतस्तु चिद्घनत्वात्तद्धीनत्वम् । विरोधाभासः पूर्ववत् । एवमुत्तरत्रापि ।। १७ ।।

उपहासैकसारेऽस्मिन्नेतावति जगत्त्रये ।

तुभ्यमेवाद्वितीयाय नमो नित्यसुखासिने ।। १८ ।।

हे परमात्मन् ! आपकी वेशभूषा अति तुच्छ है इसलिये इस विशाल त्रिलोकी में आपको उपहास का पात्र बना देती है। अत एव नित्य आनन्दधाम अद्वितीयस्वरूप आप परमशिव को नमस्कार हो ।। १८ ।।

तुच्छरूपत्वादुपहसनीयपरमार्थे एतावति—अतिविततते जगत्त्रये—भवाभवतिभवात्मनि । अद्वितीयाय—असाधारणैकरूपाय, नित्यसुखासिने—आनन्दघनायोपादेयतमाय तुभ्यमेव नमः ।। १८ ।।

दक्षिणाचारसाराय वामाचाराभिलाषिणे ।

सर्वाचाराय शर्वाय निराचाराय ते नमः ।। १९ ।।

भैरवतन्त्र के रूप में वैदिक दक्षिणमार्ग के साररूप, वामादि संज्ञक तन्त्र के रूप में वाममार्ग के माध्यम से विपरीत क्रम क जो लोग इच्छुक हैं तथा सभी वैदिक एव लौकिक दक्षिण-वामादि मार्गों के प्रवर्तक और ध्यान, पूजा आदि समस्त वैदिक आचार-विचार से शून्य अघोरी समस्त पापकर्मों को विनष्ट करनेवाले शिव को प्रणाम हो ।। १९ ।।

दक्षिणाचारो—भैरवतन्त्रमविपरीतानुष्ठानं च सारः—सारत्वेनाभिमतो यस्य। वामाचारं—वादितन्त्रं विपरीतक्रमं चाभिलषति यस्तस्मै। सर्वं आचारो निजः परिस्पन्दो यस्य। निष्क्रान्ता आचारा यस्मात्, आचारेभ्यश्च—ध्यानपूजादिभ्यो निष्क्रान्तो यस्तस्मै। अथ श्रीसर्वाचार-निराचारादिरूपं यन्मतक्रमादि शास्त्रार्थतत्त्वं तद्रूपाय नमः॥ १९॥

यथा तथापि यः पूज्यो यत्र तत्रापि योऽर्चितः।
योऽपि वा सोऽपि वा योऽसौ देवस्तस्मै नमोऽस्तु ते॥ २०॥

हे परमेश्वर ! जिस किसी भी रूप में जो आप का स्वरूप पूजनीय है। जहाँ कहीं भी आप का पूजन हुआ है। जो यह देव रूप में विद्यमान है। वह जैसा भी, जिस स्थिति में भी हो, उस परमात्मा शिव के प्रति हमारा नमस्कार हो॥ २०॥

येन येन प्रकारेण यत्र क्वचिद्यत्किंचिदाचर्यते तत्र स्वात्मदेवताविश्रान्तिरूपा पूजा अनायासेनैव सिद्धा तत्त्वविदामिति तात्पर्यम्। यत्तच्छन्दाः नियमव्युदासाय। यथागमः—

......'यथालाभं प्रपूजयेत्।'

इति॥ २०॥

मुमुक्षुजनसेव्याय सर्वसन्तापहारिणे।
नमो विततलावण्यवाराय वरदाय ते॥ २१॥

हे परमेश्वर ! मुमुक्षुजनों के द्वारा भली-भाँति सेव्य, सारे सांसारिक सन्तापों को दूर करनेवाले अनन्त परमानन्दघन, सौंदर्यसमूह, भक्तजनों को अपने अभीष्ट मोक्षरूपी फल देनेवाले आप परमशिव को नमस्कार हो॥ २१॥

साधकानां मन्त्राणां प्राणत्वान्मुमुक्षुभिरेव समनन्तरोक्तयुक्त्या निर्यन्त्रण सेवितुं शक्याय। सर्वेषां भेदमयानां सन्तापानां हारिणे—अपहन्त्रे। विततेत्युक्तिः—परमानन्दघनत्वेन अतिस्पृहणीयत्वात्। वारः—समूहः

'समूहनिवहव्यूहवारसङ्घातसञ्चयाः।'

इत्यमरः। वरदाय—संविन्नैर्मल्यसारप्रसादप्रदाय॥ २१॥

सदा निरन्तरानन्दरसनिर्भरिताखिल।
त्रिलोकाय नमस्तुभ्यं स्वामिने नित्यपर्वणे॥ २२॥

हे परमात्मन्! जिसने सदैव नित्य-निरन्तर सच्चिदानन्द अमृतरस से अखिल विश्व को आप्लावित कर दिया है एवं नित्य आनन्द महोत्सव मनानेवाले सभी प्राणियों के स्वामी आप परमशिव को नमस्कार हो ॥ २२ ॥

प्राग्वत् त्रिलोकस्य—विश्वस्य स्वस्यानन्दरसेन पूरणात् स्वामिने इत्युचितोक्तिः । नित्यपर्वणे—सदा विश्वपूरकरूपाय, पर्व पूरणे इत्यस्य प्रयोगः । सर्वश्च पर्वणि आनन्दरसनिर्भरितं निखिलं करोति ॥ २२ ॥

सुखप्रधानसंवेद्यसम्भोगैर्भजते च यत् ।
त्वामेव तस्मै घोराय शक्तिवृन्दाय ते नमः ॥ २३ ॥

जो संविद्रूपा ब्राह्मादि शक्तिसंध का सुखसम्बन्धी विषयों के संभोगों से आप परमेश्वर के स्वरूप की ही सेवा-शुश्रूषा में लगे हुए हैं। उस घोर-समस्त अज्ञानरूपी भेदप्रथा की निवृत्ति करनेवाले आप परमशिव की नेत्रादि शक्तिसमूह को हम नमस्कार करते हैं ॥ २३ ॥

यत् शक्तिवृन्दं—संविद्देवीचक्रं, चमत्कारेण—आनन्दघनप्रमातृ-विश्रान्त्या सुखप्रधानसंवेद्यसंभोगैः—आनन्दसारविषयग्रासास्वादैः, त्वामेव भजते—त्वय्येव विश्वमर्पयति । तस्मै घोराय सर्वसंहर्त्रे ते—तव सम्बन्धिने नमः ॥ २३ ॥

मुनीनामप्यविज्ञेयं भक्तिसम्बन्धचेष्टिताः ।
आलिङ्गन्त्यपि यं तस्मै कस्मैचिद्भवते नमः ॥ २४ ॥

तपोनिधि योगनिष्ठ कपिलमुनि आदि महर्षियों से भी जानने में असमर्थ, जिस चित्स्वरूप परमशिव को भक्तिसुधारस समावेश सुधारसचमत्कार के सम्बन्ध में व्यवहार करनेवाले भक्तवृन्द सभालिङ्गन करते हैं। अपने चित्स्वरूप में निरन्तर प्रस्फुरित होनेवाले देवादिदेव शिव के प्रति हमारा प्रह्वीभावपूर्वक नमस्कार हो ॥२४॥

मुनीनामिति—तपोयोगादिनिष्ठानां कपिलादीनामपि ज्ञातुमशक्यम् । भक्तिसम्बन्धचेष्टिताः—समावेशरसानुविद्धव्यापाराः आलिङ्गन्त्यपि—दृढावष्टम्भयुक्त्या स्वसम्भोगपात्रं कुर्वन्त्यपि यं तस्मै कस्मैचित्—स्वात्मनि स्फुरते नमः ॥ २४ ॥

परमामृतकोशाय परमामृतराशये ।
सर्वपारम्यपारम्यप्राप्याय भवते नमः ॥ २५ ॥

आप चिदानन्द सुधारस का आकर है, इसलिये आप शिव परमानन्दरसामृत की राशि है और सारी प्रमेयादि पदार्थों की प्रकाशमानता है। अतः उस परमतत्त्व प्राप्ति का एकमात्र लक्ष्य आप परमात्मा को नमस्कार हो ॥ २५ ॥

परमामृतस्य—आनन्दरसस्य कोशो—गञ्जमिव । अतस्तत्पूर्णत्वा द्राशिश्च, बहिरपि तन्मयत्वात् । सर्वस्य—मेयादेः पारम्यं—परमत्वंप्रकाश-मानता । तस्यापि पारम्यम्—आनन्दघनश्चमत्कारः शाक्तः समुल्लासस्तेन प्राप्याय ॥ २५ ॥

महामन्त्रमयं नौमि रूपं ते स्वच्छशीतलम् ।
अपूर्वामोदसुभगं परामृतरसोल्वणम् ॥ २६ ॥

हे विश्वात्मन् ! यह चित्स्वरूप महान् स्वयं प्रकाशात्मक अहं परामर्शस्वरूप है और स्वच्छ होने से स्फरिकवत् अत्यन्त निर्मल है एवं सांसारिक सन्तापों को दूर करनेवाले होने से चन्द्रवत् शीतल है। यह अपूर्वसुगन्धि से युक्त है तथा चिदानन्द सुधारस से परिपूर्ण है ऐसे आप के विविध स्वरूप की मैं स्तुति करता हूँ ॥ २६ ॥

महामन्त्रमयम्—अकृत्रिमाहंपरामर्शमयं तव रूपं नौमि—इति प्राग्वत् । स्वच्छ—विश्वप्रतिबिम्बधारणात् । शीतलं—संसारतापहारित्वात् । अपूर्वेण आमोदेन—अलौकिकेन व्यापिना परिमलेन ह्लादिना स्वरूपेण, सुभगं—स्पृहणीयम् । परमामृतरसेन—परमानन्देन उल्वणं—बृंहितम् ॥२६॥

स्वातन्त्र्यामृतपूर्णत्वदैक्यख्यातिमहापटे ।
चित्रं नास्त्येव यत्रेश तन्नौमि तव शासनम् ॥ २७ ॥

हे परमेश्वर ! जिस स्वातन्त्र्यरूपी सुधारसचमत्कार से परिपूर्ण आप परमशिव के स्वात्मस्वरूप की एकता का अवबोध करानेवाले महापट पर कुछ भी विचित्र-अद्भुत नहीं हो सकता है। अत एव आप के उस आगमनशास्त्ररूपी उपदेश की मैं स्तुति करता हूँ ॥ २७ ॥

स्वातन्त्र्यामृतेन सम्पूर्णा स्वतन्त्रता आनन्दघना या त्वदैक्यख्यातिः—भवदभेदप्रथा, सैव विश्वचित्रतन्तुव्याप्त्या महापटः। तत्र विषये यत् शासनं—शास्यतेऽनेन इति कृत्वा तदुपदेशको य आगमः, तं नौमि। यत्र विश्वम् आश्चर्यमयं त्वदैक्यप्रथनसारेऽपि चित्रं—नानारूपं नास्त्येव, त्वदैक्यख्यातिप्रतिपादनपरत्वात्। चित्रम्—अद्‌भुतं च नास्ति,—अनुत्तरत्वादागमस्य सर्वसंभावनाभूमित्वात्। अथ च पटे स्थितं शासनमविचित्ररूपं चेति चित्रम्॥ २७॥

सर्वाशङ्काशनिं सर्वालक्ष्मीकालानलं तथा।
सर्वामङ्गल्यकल्पान्तं मार्गं माहेश्वरं नुमः॥ २८॥

जो सारी शङ्काओं का निवर्तक है और सारी दरिद्रता को विदग्ध करने में कालाग्नि के समान है तथा समस्त अशुभसूचकों का विनाशक है। उस दिव्य माहेश्वर मार्ग की हम स्तुति करते हैं॥ २८॥

सर्वासामाशङ्कानां—द्रव्यपूजामन्त्रादिसंकीर्णत्वाद्युक्तानां, विचित्रसंसारबीजभूतानां, चित्तवृत्तिम्लानिदानाम् अशनिं—स्वरूपध्वंसकम्। आम्नायेऽपि च

'शङ्कापि न विशङ्केत निःशङ्कत्वमिदं स्फुटम्'।

इत्युक्तम्। अलक्ष्मीणाम्—अनानन्ददशानां कालानलं—महादाहकम्। सर्वामङ्गल्यानाम्—अशुभसूचकानां कल्पान्तं—निःशेषेण नाशकं, माहेश्वरं मार्गं—शाक्तं प्रसरं नुमः॥ २८॥

जय देव नमो नमोऽस्तु ते सकलं विश्वमिदं त्वाश्रितम्।
जगतां परमेश्वरो भवान् परमेकः शरणागतोऽस्मि ते॥ २९॥

हे क्रीडाशील देव! आप की सर्वत्र विजय-जय-जय ध्वनि हो। आप के प्रति हमारा अनेक बार नमस्कार स्वीकृत हो। यह सारा दृश्यमान विश्वप्रपञ्च आप के आश्रित है और आप ही उस सब का एकमात्र स्वामी है, अतः मैं आप परमशिव की शरण में आया हूं॥ २९॥

परमेकोऽस्मीति—देहाद्यभिमानेन त्वन्मायाशक्तिक्लृप्तेन विश्वविभेदेन त्वत्तः पृथगिव कृतः। अत एव शरणमागतः। युक्तं चैतत्, यतो विश्वमिदं तवाश्रितं—चिन्मयत्वत्स्वरूपमग्नं। ततश्च जगतां भवानेव परमेश्वरः—ब्रह्मादिसदाशिवान्तेभ्य उत्तमः। अत एव हे देव—क्रीडादिशील! जय—देहाद्यभिमानमिममुत्पुंस्य स्वरूपेण प्रथस्व, इति शिवम्॥ २६॥

•

इति श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितस्तोत्रावल्यां सर्वात्मपरिभावनाख्ये द्वितीये स्तोत्रे श्रीक्षेमराजाचार्यविरचिता विवृतिः॥ २॥

●

अथ

तृतीयं स्तोत्रम्

सदसत्त्वेन भावानां युक्ता या द्वितयी गतिः ।
तामुल्लङ्घ्य तृतीयस्मै नमश्चित्राय शम्भवे ॥ १ ॥

जबकि समस्त प्रमेय-पदार्थों की सत् एवं असत् रूप से अर्थात् जन्मसत्तारूप से और प्राक्प्रध्वंसाभावादिरूप से दो प्रकार की गति देखने में आती है। इसलिये उस द्वितीयगति का परित्याग कर सत् एवं असत् से अवर्णनीय तुर्यादिवत् संख्या द्वारा प्रतिपादित जो तृतीयगति है। उस-विश्व को विचित्ररूप में प्रकट करने वाले अतिविस्मयजनक भगवान् शंभुनाथ को नमस्कार हो ॥ १ ॥

भावानां—प्रमेयादीनां, जन्मसत्तादिरूपतया प्राक्प्रध्वंसाभावादि-रूपतया च द्वितयरूपा गतिर्युक्ता। यतस्ते भावा—भावनीयाः—सम्पाद-नीयाः। तामुल्लंध्य—उज्झित्वा यस्तृतीयः—सदसत्ताभ्यामव्यपदेश्यत्वात् तुर्यादिवत्संख्ययैव व्यपदेश्यः स्थितः, तस्मै चित्राय—आश्चर्याय विश्वचित्राय शम्भवे नमः—इति प्राग्वत् ॥ १ ॥

आसुरर्षिजनादस्मिन्नस्वतन्त्रे जगत्त्रये ।
स्वतन्त्रास्ते स्वतन्त्रस्य ये तवैवानुजीविनः ॥ २ ॥

हे परमात्मन्! इस परतन्त्र त्रिलोकी में मरीचि आदि देवर्षि ही सर्वथा पराधीनता से विमुक्त रहते हैं, जो आपके स्वात्मस्वरूप में सदैव सन्निविष्ट रहते हुए भक्तिपरायण हो गये हैं। वस्तुतः वे भक्तवृन्द पूर्णतया सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र हैं ॥ २ ॥

जगत्त्रयं—प्राग्वत्। सुरर्षिजनात्—मरीच्यादिदेवर्षिजनात्। आ आङ् अभिविधौ। अस्वतन्त्रत्वं—सृष्टिसंहारगोचरत्वम्। स्रष्ट्रादिरूपस्तु शंभुरेव स्वतन्त्रः। तस्य च ये अनुजीविनः—तदात्मकस्वात्मसाक्षात्कारिणः, तेऽपि तदावेशात् स्वतन्त्रा एव ॥ २ ॥

अशेष-विश्वखचित-भवद्वपुरनुस्मृतिः ।
येषां भवरुजामेकं भेषजं ते सुखासिनः ॥ ३ ॥

इस अखिल विश्व से उल्लेखित हुए आपके चिदात्मस्वरूप का पुनः पुनः स्मरण करना ही भवरोगों अर्थात् सांसारिक क्लेशों के लिये एकमात्र औषध है और यह औषध जिन्हें मिल गया है। वस्तुतः वे लोग ही परमानन्दभाव में रहते हैं ॥ ३ ॥

भवरुजां—सांसारिकोपतापानां, भेषजम्—औषधं। विश्वखचितत्वात् सर्वोपकृतिकरणक्षमा भवद्वपुरनुस्मृतिः—चिदात्मनस्त्वत्स्वरूपस्यानुगततया स्मरणं—समावेशमयं येषामस्ति, ते सुखासिनः—सत्स्वपि देहादिनान्तरीयकेषु दुःखस्पर्शेषु परमानन्दघने सुख एव तिष्ठन्ति ॥ ३ ॥

सितातपत्रं यस्येन्दुः स्वप्रभापरिपूरितः।
चामरं स्वर्धुनीस्रोतः स एकः परमेश्वरः ॥ ४ ॥

अपने संवित्प्रकाश से आप्लावित समस्त प्रमेयरूपी चन्द्रमा जिस परमात्मा का शुभ्र-धवल छत्र है तथा स्वः—स्वर्ग तदुपलित निरय-धर्माधर्मरूप कर्मफलं का प्रक्षालन करती है ऐसी स्वर्धुनी-मध्यवाहिनी चिच्छक्ति भगवती गङ्गा जिसका चामर अर्थात् स्वात्मप्रथा हेतु है। वस्तुतः वही एक परमेश्वर है ॥ ४ ॥

इन्दुः—सर्वमेयरूपः, प्रकाशदशायां स्वप्रभाभिः—चैतन्यमरीचिभिः परिपूर्णतां प्रापितः, यस्य सितं—शुद्धं, स्वात्मलग्नत्वाच्च बद्धं, पाशवहेयोपादेयतादिकल्पनोत्थात् आतपात् त्रायते—इत्यातपत्रम् तथा स्वः—स्वर्गं तदुपलक्षितं च निरयं—धर्माधर्मफलं धुनोति—स्वर्धुनी मध्यवाहिनी चिच्छक्तिः, सैव प्रसरद्रूपत्वात्स्रोतः, तद्यस्य चामरं—माहात्म्यप्रथाहेतुः। स एको नतु अन्यः परम ईश्वरः। स्थूलदृष्ट्या तु निजरश्मिपूर्णः खण्डेन्दुः गङ्गा च यस्य असाधारणं छत्रं चामरं चेति स्पष्टम् ॥ ४ ॥

प्रकाशां शीतलामेकां शुद्धां शशिकलामिव।
दृशं वितर मे नाथ कामप्यमृतवाहिनीम् ॥ ५ ॥

हे दिनंकिकर शिव ! चन्द्रमा की सुधा से संपृक्त चन्द्रिका के समान अत्यन्त शीतलप्रकाशवाली अर्थात सांसारिक क्लशों का उपशमन करने वाली शुद्ध-भेदकलङ्क की निवृत्तिरूप विमल अमृतवाहिनी—अर्थात् चिदानन्दस्यन्दनी एक विलक्षण अनुग्रहरूपी ज्ञानदृष्टि मुझ दास पर डालिये ॥ ५ ॥

प्रकाशां—सुप्रकटां, शीतलां—सन्तापहरां, शुद्धां—भेदकलङ्कशातिनीं च, एकाम्—अद्वितीयां, काम्पि—अपूर्वां, अमृतवाहिनीम्—आनन्दस्यन्दिनीं, दशं—संविदं, मे—मह्यं, नाथ! वितर—प्रयच्छ। शशिकलापक्षे श्लिष्टोक्तेः स्पष्टोऽर्थः ॥ ५ ॥

त्वच्चिदानन्दजलधेश्च्युताः संवित्तिविप्रुषः।
इमाः कथं मे भगवन्नामृतास्वादसुन्दराः ॥ ६ ॥

हे षड्विधैश्वर्यसम्पन्न ईश्वर! आप चिदानन्दसागर से प्रच्युत जो नील-सुखादि ज्ञान की कणिकायें मेरे लिये अमृत आस्वादन से प्रस्फुरित क्या नहीं होती हैं? अर्थात् निश्चित ही होती है ॥ ६ ॥

त्वत्तः—चिदानन्दसमुद्रात् याः संवित्तिविप्रुषः नीलसुखादिज्ञान-कणिकाः, प्रकाशमानत्वाच्चिदानन्दसारा एव च्युताः—निर्याताः, समकालम-मृतास्वादसुन्दराः, इमा विस्फुरन्त्यो नो कथं भवन्ति—भवन्त्येवेत्यर्थः ॥ ६ ॥

त्वयि रागरसे नाथ न मग्नं हृदयं प्रभो।
येषामहृदया एव तेऽवज्ञास्पदमीदृशाः ॥ ७ ॥

हे विश्वनाथ! हे प्रभो! जिन भक्तजनों का हृदय आपकी विमलभक्तिरस के अनुराग में निरन्तर समाविष्ट नहीं रहता है। वस्तुतः वे लोग सांसारिक क्लेशों से युक्त भक्तिरस के अनुराग से शून्य हुए अवज्ञा के ही पात्र होते हैं अर्थात् वे लोग आपकी भक्ति करनेवालों में नहीं गिने जाते हैं ॥ ७ ॥

त्वद्विषये यो रागरसो—भक्तिप्रसरः। तत्र येषां हृदयं न मग्नं—न समाविष्टं, ते अविद्यमानतात्त्विकहृदयाः। ईदृशा इति—संसारक्लेशभाजन-भूताः। अवज्ञास्पदं—भक्तिमतामगणनीया एव ॥ ७ ॥

प्रभुणा भवता यस्य जातं हृदयमेलनम्।
प्राभवीणां विभूतीनां परमेकः स भाजनम् ॥ ८ ॥

जिस भक्त का हृदय परमात्मा से अभिन्न हो चुका है। वह व्यक्ति ही परमेश्वर सम्बन्धी अद्वैत आनन्दसम्पदारूपी विभूतियों का एकमात्र पात्र है। इस से अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति नहीं हो सकता है ॥ ८ ॥

उक्तार्थप्रातिपक्ष्येणोक्तिः यस्येति—कस्यचिदेव। अहृदयास्तु प्रायशो बहव इति बहुवचनमत्र नोक्तम्। हृदयमेलनं—समावेशेनैकध्यम्। विभूतयः—अद्वयानन्दसम्पदः। यस्य च लौकिकेश्वरेण हृदयमेलनं भवति, स एवैकस्तद्विभूतीनां पात्रं नान्य इति श्लेषेण ध्वनति ॥ ८ ॥

हर्षाणामथ शोकानां सर्वेषां प्लावकः समम्।
भवद्ध्यानामृतापूरो निम्नानिम्नभुवामिव ॥ ९ ॥

हे परमेश्वर! आप के स्वरूपसम्बन्धी जो ध्यान-समावेशात्मक अमृतरूपी चिन्तन का प्रवाह है, वह रागद्वेषरूपी द्वन्द्वों को नीची एवं ऊँची अर्थात् अशुद्धेतररूपी माया अविद्याभूमियों की भाँति एक साथ बहानेवाला—विनष्ट करने वाला होता है ॥ ९ ॥

भवद्ध्यानं—समावेशरूपं त्वच्चिन्तनमेव अमृतापूरः। स यथा निम्नानिम्नभुवाम् — अशुद्धेतररूपमायाविद्याभूमीनां सम — युगपत्, प्लावकः—सामरस्यापादकः। तथा लौकिक-शोकहर्षादीनामपि। समाविष्टस्य हि युगपदेव निखिलं परमानन्दव्याप्तिमयं जायते। जलापूरश्च निम्नोन्नता भूमीः प्लावयति ॥ ९ ॥

केव न स्याद्दशा तेषां सुखसम्भारनिर्भरा।
येषामात्माधिकेनेश न क्वापि विरहस्त्वया ॥ १० ॥

हे ईश्वर! उन लोगों की कौन-सी स्थिति परमानन्द भाव से परिपूर्ण नहीं होती है अर्थात् उन की सारी अवस्था ही सुख से भरी हुई रहती है। जिनका आपने चित्सवरूप से अधिक आप के साथ किसी भी स्थिति में वियोग नहीं होता है अर्थात् देहादि भावों में डूब कर चिद्रूपता से प्रस्फुरित होनेवाले आपके साथ किसी समय भी विरह नहीं देखा जाता है। इस प्रकार जीवन जीते हुए परमेश्वर से अभेद रखनेवाले सदा सुखी ही रहते हैं ॥ १० ॥

येषामात्माधिकेन, ईश! देहादि निलज्ज्य चिद्घनत्वेन स्फुरता त्वया, क्वापि—कदाचिदपि न वियोगः, तेषां सुखसम्भारनिर्भरा—परमानन्दपूर्णा, का इव दशा न स्यात्—सर्वैव भवतीत्यर्थः। जीवन्तः ईश्वरावियुक्ताश्च सदा सुखिनो भवन्ति ॥ १० ॥

गर्जामि बत नृत्यामि पूर्णा मम मनोरथाः ।
स्वामी ममैष घटितो यत्त्वमत्यन्तरोचनः ॥ ११ ॥

जो अवर्णनीय स्वानुभवसिद्ध आप परमशिव मेरे लिये अतिशय प्रिय प्रभु हुए हों । अतः मेरे सभी मनोरथ पूर्ण हो चुके हैं अर्थात् मैं समस्त लौकिक आकांक्षाओं से रहित हो गया हूँ । इसी कारण मैं चिदानन्द उर्मि में गरजता हूँ और अपने भाग्य की सराहना करता हुआ अत्यन्त हर्ष से नृत्य करता हूँ ॥ ११ ॥

अतिभक्तिरसानन्दघूर्णितस्येयमुक्तिः । अत्यन्तं रोचन—अतिशयेन प्रियः । एष इति—वक्तुमशक्यः स्वानुभवसंसिद्धः । तथा च अत्यन्तरोचनः—विश्वग्रासकत्वेन अतिदीप्तप्रकाशवपुर्यतस्त्वं स्वामी ममघटितः—समावेशेन मया आसादितः, ततो गर्जामि—महारवमुच्चारयामि । नृत्यामि—हर्षप्रसरभरेण सर्वतो मायाप्रमातृभावधूननसारं गात्रविक्षेपं करोमि । मम च मनोरथाः पूर्णाः—निराकाङ्क्षोऽस्मि जात इत्यर्थः । बत इति—अनुत्तरचित्स्वरूपप्रत्यभिज्ञानाद्विस्मयमुद्रानुप्रवेश ध्वनति ॥ ११ ॥

नान्यद्वेद्यं क्रिया यत्र नान्यो योगो विदा च यत् ।
ज्ञानं स्यात् किन्तु विश्वैकपूर्णा चित्त्वं विजृम्भते ॥ १२ ॥

जिस स्थिति में —परमशिवतत्त्व का अवबोध होने पर अन्य कोई बाह्यवेद्यवस्तु के ज्ञान की अपेक्षा नहीं रह जाती है तथा लौकिक किसी विधि-क्रिया करने योग्य नहीं रह जाती है एवं योगसम्बन्धी किसी साधना की ही अपेक्षा नहीं रह जाती है और न तो ज्ञान ही अपेक्षित है । आशय यह है कि विश्वोत्तीर्णदशा में परमतत्त्व से भिन्न मुझे कुछ भी नहीं भासता है । परमतत्त्व का यथार्थज्ञान ही भेदात्मिका प्रथा को विदग्ध करने में एकमात्र पूर्णाहूति अर्थात् बोधाग्निप्रज्वालिनी है । परामर्शक्रियात्मक पूर्णाहन्तारूप शक्तिस्वरूप का जो यह ज्ञान है, वही शिवप्रकाशरूप चित्तत्त्व को प्रकाशित करता है ॥ १२ ॥

तथाविधो मम स्वामी घटितो, यत्र स्वामिनि सति अन्यद्—भिन्नं वेद्यं, अन्या क्रिया, अन्यो योगः, अन्या च विदा—संविन्नास्ति । घटितस्वामिव्यतिरिक्तं मम न किंचिदपि भातीत्यर्थः । क्रिया विदा इत्यत्र अन्या इति योजना । तत्र पूर्णत्वमस्त्येव—इत्याह किन्तु यज्ज्ञानं स्यात् तद्विश्वस्यैका पूर्णाहुतिः—बोधाग्निप्रज्वालिनी । पूर्णाहं परामर्शक्रियाशक्तिस्वरूपमेतज्ज्ञान-

मिति यावत्। यच्च ईदृग्ज्ञानं तदेव चित्त्वं—शिवप्रकाशरूपत्व विजृम्भते नान्यत्। यदागमः

"न योगोऽन्यः क्रिया नान्या तत्त्वारूढा हि या मतिः।
स्वचित्तवासनाशान्तौ सा क्रियेत्यभिधीयते" ॥ गमतं० ॥

इति ॥ १२ ॥

दुर्जयानामनन्तानां दुःखानां सहसैव ते।
हस्तात्पलायिता येषां वाचि शश्वच्छिवध्वनिः ॥ १३ ॥

हे परमशिव ! जो दुर्जेय है और अनन्त दुःखसमूह से घेरे हुए हैं, उन के हाथ से वे लोग सहसा ही पलायित हो गये हैं अर्थात् जिन भक्तजनों की वाणी से सदैव शिव की मधुरध्वनि उच्चरित होती रहती है। 'हस्तात् पलायिता' इस वाक्य से यह द्योतित होता है कि भगवान् परमशिव का वाणी से संकीर्तन न करनेवाले सांसारिक अनेक दुःखों से पीडित रहते हैं तथा ऐसा कहा गया है कि ब्रह्मा से लेकर कीटपतङ्गा पर्यन्त कोई भी प्राणी सुखी नहीं है ॥ १३ ॥

हस्तात्पालायिता इत्यनेन शिवध्वनिशून्यवाचः सर्वदुःखाक्रान्ता इति ध्वनति। तथा चोच्यते

"आब्रह्मणश्च कीटान्तं न कश्चित् तत्त्वतः सुखी।
करोति तास्ता विकृतीः सर्व एव जिजीविषुः ॥"

इति ॥ १३ ॥

उत्तमः पुरुषोऽन्योऽस्ति युष्मच्छेषविशेषितः।
त्वं महापुरुषस्त्वेको निःशेषपुरुषाश्रयः ॥ १४ ॥

हे प्रभो ! युष्मद् शब्द से एवं शेष—तद् शब्द से विशेषित अस्मद् शब्द—उत्तम पुरुष कोई भिन्न ही है। किन्तु आप परमात्मा तीनों पुरुषों के आश्रय एक ही अद्वितीय महान् पुरुष हैं ॥ १४ ॥

'हरिः पुरुषोत्तमः'—इति प्रसिद्धः। स युष्मच्छेषेण—तावकेन अभेदसारविद्याधिष्ठातृप्रमातृषु च विलब्धादन्येन अधिष्ठानात्मना स्वरूपेण विशेषितः—सम्पादितविशेषः। तथा चागमः

"वैष्णव्यास्तु स्मृतो विष्णुः।"

इति। त्वं सकलादिसदाशिवान्तनिःशेषपुरुषाश्रयत्वान्महापुरुषः। अन्यशब्दः कश्चिदर्थः। एकः—अद्वितीयः। इति एकः श्लोकार्थः। अपरस्तुव्याकरण-प्रक्रियया उत्तमपुरुषः अस्मदर्थे यः स युष्मच्छेषाभ्यां मध्यमप्रथमपुरुषाभ्यां विशेषितः—सञ्जातविशेषोऽस्ति, तस्य च तटस्थपरामृश्यात्प्रथमपुरुषात् युष्मदर्थोन्मुखाच्च मध्यमपुरुषादय विशेषः, यदशेषपुरुषाश्रयत्वं तद्विश्रान्ति-धामत्वं। सर्वस्येदन्ताविमृश्यस्याहन्तायामेव विश्रान्तेः —स पचति, त्वं पचसि, अहं पचामि—इति विवक्षायां वयं पचामः—इत्यादौ प्रयोगेऽयमेवाशय इत्यास्ताम्। त्वं तु निःशेषाणां—प्रथममध्यमोत्तमपुरुषाणां कल्पितानाम-कल्पितचिद्रूपः आश्रयः। यथोक्तं प्रत्यभिज्ञायां

"ग्राह्यग्राहकताभिन्नावर्थौ भातः प्रमातरि।" १अ०, ४आ०, श्लो० ८॥

इति। अत एव महापुरुषः—महेश्वरो, महादेववन्महच्छब्दस्य त्वय्येव प्रवृत्तत्वात्॥ १४॥

जयन्ति ते जगद्वन्द्या दासास्ते जगतां विभो।
संसारार्णव एवैष येषां क्रीडामहासरः॥ १५॥

हे सारे भुवनवर्ग के ईश! शिवस्वरूप में निरन्तर अवस्थित रहने के कारण आपके भक्त धन्य हैं और वे लोग जगत् म वन्दनीय है। जिनके लिये यह संसारसागर ही क्रीडा का विशाल सरोवर है अर्थात् अपने स्वरूपात्मक ज्ञान से जिन लागों ने यह अत्यन्त घोर संसाररूपी समुद्र ही क्रोडास्थल के समान एक बड़ा भारो सरोवर समझ समझ लिया है। तथा स्पन्दशास्त्र में कहा गया है कि—

जिस योगी के अन्तर्भाव में यह सारा विश्व क्रोडा के रूप में विद्यमान है और समस्त प्रमेयराशि को उस रूप में देखता हुआ स्वरूप से अभेद प्राप्त कर लेता है, अतः इसमें सन्देह नहीं है कि वह जीवन्मुक्त नहीं है॥ १५॥

जगद्वन्द्यत्वं—शिवसमावेशपात्रत्वात्। जगतां विभो! तव दासास्ते जयन्ति, येषां संसारसमुद्र एवैष इति—अतिघोरोऽपि चिद्रूपतया ज्ञातपरमार्थः सन् क्रीडामहासरः कल्पः। यथोक्तं स्पन्दे।

"इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत्।
सम्पश्यन् ....॥" नि० ३, श्लो० ३॥

इत्यादि॥ १५॥

आसतां तावदन्यानि दैन्यानीह भवज्जुषाम् ।
त्वमेव प्रकटीभूया इत्यनेनैव लज्ज्यते ॥ १६ ॥

इस शैवाद्वय सम्प्रदाय में आपके स्वरूप से निरन्तर अभेदभाव रखनेवाले भक्तजनों के लिये अन्य दीनताएँ अर्थात् अणिमादि प्रार्थनाएं तो दूर रहीं, किन्तु आप मेरे समक्ष स्वयमेव प्रकट हो जायें। जबकि इस प्रकार की प्रार्थना से वे लोग लज्जा का अनुभव करते हैं। अत एव 'दण्डापूपीयन्याय' से दैन्यान्तर की संभावना ही नहीं रह जाती है ॥ १६ ॥

अन्यानि दैन्यानि—अणिमादिप्रार्थना। भवज्जुषां—सततसमावेश-प्रथमानत्वत्स्वरूपाणाम्, अत एव प्रार्थनीयान्तरविरहात् त्वमेव प्रकटीभूयाः—इत्यनेनैव कदाचित्समाविष्टैः प्रार्थनीयेन यतो लज्ज्यते ततो दण्डापूपीयन्यायेन दैन्यान्तरसम्भावनैव नास्ति ॥ १६ ॥

मत्परं नास्ति तत्रापि जापकोऽस्मि तदैक्यतः ।
तत्त्वेन जप इत्यक्षमालया दिशसि क्वचित् ॥ १७ ॥

हे परमशिव ! यद्यपि आपके स्वरूपभूत मुझ से भिन्न अन्य कोई सर्वोत्कृष्ट देवता नहीं है तथापि 'शिव-शिव' इस पावन नाम का जप-स्मरण करता रहता हूँ। इसलिये कि चिदैक्य भावना का यह वास्तविक जय है और इससे पूर्णाहन्ताविमर्शरूपा नित्योदितदशा का आविर्भाव हो जाता है। इस प्रकार आप स्वयमेव गौरी-गणेश-ईश्वरादि के स्वरूप को धारण कर तत्त्वसम्बन्धी उपदेश दिया करते हैं ॥ १७ ॥

'महेशितुरपि जप्यं देवतान्तरमस्ति - अक्षमालायोगात्,—इति ये मुह्यन्ति तान् बोधयितुमाह;—मत्परं तावन्नास्ति तथापि जापकोऽस्मि यत्, तत्—तस्मात् ऐक्यतः—ऐक्येन चिदभेदेन परमार्थतो जपः—पूर्णाहन्ता-विमर्शात्मा नित्योदितो भवति—इत्यक्षमालया क्वचित्—गौरीश्वराद्याकृतौ दिशसि—कथयसि। तच्छब्दाद्यच्छब्द आक्षेप्यः। अथवा अक्षमालया—करणीश्वरीपंक्त्या समस्तार्थसार्थसर्गसंहारपरम्परासमापत्तये पुनः पुनरावर्त-मानया ऐक्यतः—महार्थनयाभेदसारेणैकत्वेन च जपः—अनुत्तरविमर्शसारो भवतीत्यक्षमालयैव—वर्णलिपिन्यासेन युक्त्या शिक्षयसि ॥ १७॥

सतोऽवश्यं परमसत्सच्च तस्मात्परं प्रभो ।
त्वं चासतस्सतश्चान्यस्तेनासि सदसन्मयः ॥ १८ ॥

हे प्रभवनशील देव ! भाव और अभाव ये दोनों पदार्थ परस्पर भिन्न हैं। अत एव असद्रूप आकाशपुष्पादि से सद्रूप नील-सुखादि भिन्न हैं और सत् से असत् पदार्थ भिन्न है। वस्तुतः आप परमशिव तो सत् और असत् इन दोनों से पृथक् हैं। आप सद्रूप भी नहीं है और असद्रूप भी नहीं है। आप सत् और असत् इन दोनों से विलक्षण-चिदानन्दघन विश्वात्मक है। न केवल सद्रूप ही है अथवा असद्रूप ही है किंवा सत् और असत् ही है या इन दोनों से शून्य है ॥ १८ ॥

भावाभावौ परस्परं भिन्नौ त्वमसतः—खपुष्पादेः सतश्च—नीलसुखादेरन्यः— विलक्षणः चिदानन्दघनः। अत एव सदसन्मयः—सद्रूपोऽप्यसद्रूपोऽपि, सदसद्रूपोऽपि विश्वात्मकस्त्वम्। नतु सद्रूप एव वा, असद्रूप एव वा, सदसद्रूप एव वा, उभयोज्झित एव वा। तथा च श्रीभर्गशिखायां

"न सन्न चासत्सदसन्नैव तदुभयोज्झितम्।"

इत्युपक्रम्य

"दुर्विज्ञेया हि सावस्था किमप्येतदनुत्तरम्।"

इत्यनिर्वचनीयतयैव विश्वोत्तीर्णविश्वमयचिदानन्दघनमनुत्तरस्वरूपं—

"सदसत्त्वेन...... ....।" ३ स्तो०, श्लो० १ ॥

इति श्लोकेन भावनीयसदसत्ताकोटिद्वयवैलक्षण्यमुक्तम्। अनेन तु सर्वभावाभावोत्तरत्वम् ॥ १८ ॥

सहस्रसूर्यकिरणाधिकशुद्धप्रकाशवान् ।
अपि त्वं सर्वभुवनव्यापकोऽपि न दृश्यसे ॥ १९ ॥

हे प्रभो ! यद्यपि आप सहस्रसूर्य की रश्मियों से भी अधिक देदीप्यमान उज्जवल प्रकाशरूप है क्योंकि उन सबों का भी आप प्रकाशक हो और चतुर्दश भुवनमण्डल में व्यापक है। आशय यह है कि सभी भूतप्राणियों के अन्तःकरण में विद्यमान रहने पर भी पशु-पामर लोगों की दृष्टि का अविषय ही है ॥ १९ ॥

सहस्रसूर्यकिरणेभ्योऽप्यधिक—तेषामपि तत्प्रकाशत्वात्। शुद्धः—चिदेकरूपः प्रकाशो भूम्ना प्राशस्त्येन च यस्य। अत एव सर्वभुवनव्यापकोऽपि त्वं मायाव्यामूढैर्न दृश्यसे—भासमानोऽपि न प्रत्यभिज्ञायसे इति यावत् ॥१९॥

जडे जगति चिद्रूपः किल वेद्येऽपि वेदकः ।
विभुर्मिते च येनासि तेन सर्वोत्तमो भवान् ॥ २० ॥

यद्यपि आप सर्वव्यापक देव परमार्थरूप से पृथिवीतत्त्व से लेकर सदाशिवतत्त्व पर्यन्त अचेतन-जड वस्तु में चिद्रूप से अवस्थित हों और वेद्य-वस्तु का भी वेदक-ज्ञाता हों एवं परिमित्त-परिच्छिन्न वस्तु में विभु-व्यापकरूप से अवस्थित हों। इसी से आप सर्वोत्कृष्ट है ॥ २० ॥

जगति—क्षित्यादिसदाशिवावसाने जडे वेद्ये मिते च असि त्वं चिद्रूपो वेदको व्यापकश्च यतस्ततः सर्वोत्तमोऽसीति सम्बन्धः ॥ २० ॥

अलमाक्रन्दितैरन्यैरियदेव पुरः प्रभोः ।
तीव्रं विरौमि यन्नाथ मुह्याम्येवं विदन्नपि ॥ २१ ॥

हे नाथ ! अन्य बातों से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा फिर भी मैं इतना ही आप परमात्मा से तीव्रतया चिल्ला कर कहता हूँ कि इस प्रपञ्च को जानता हुआ भी मोहित्त हो रहा हूँ ॥ २१ ॥

इति सर्वदर्शनाचार्य-कृष्णानन्दसागरकृत-हिन्दीव्याख्या-स्तवरञ्जनी ।

व्युत्थानदशापरपशः समावेशस्य तत्त्वं जानन्नपि मुह्यामीति—समावेशविवशो भवामीति शिवम् ॥ २१ ॥

इति श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितस्तोत्रावली प्रणयप्रसादाख्ये तृतीये स्तोत्रे श्रीक्षेमराजाचार्यविरचिता विवृतिः ।

अथ

चतुर्थं स्तोत्रम्

चपलमसि यदपि मानस
तत्रापि श्लाघ्यसे यतो भजसे ।
शरणानामपि शरणं
त्रिभुवनगुरुमम्बिकाकान्तम् ॥ १ ॥

हे मानस ! यद्यपि तुम अत्यन्त चञ्चल हो, तो भी प्रशंसा के योग्य हो; इसलिये कि ब्रह्मा, विष्णु आदि शरणागतों की रक्षा करनेवाले त्रिलोकी के पूज्य अम्बिका-पराशक्ति के प्रिय भगवान् परमशिव को यदा कदा भी स्मरण कर लेते हो ॥ १ ॥

चापल्याद्यद्यपि भगवद्भजने न प्ररोहसि तथापि कृतार्थमसि—क्षण-मात्रमपि तत्सेवायाः पूर्णव्याप्तिप्रदत्वात् । अत एव शरणानामपीति—असामान्यतां भगवतः प्रथयति । शरणानां—ब्रह्मविष्णवादीनामपि शरण—सनाश्रयं, त्रिभुवनगुरुं—विश्वस्योपदेष्टारं पूज्यं च । अम्बिका—पराशक्तिः ॥ १ ॥

उल्लङ्घ्य विविधदैवत-
सोपानक्रममुपेयशिवचरणान् ।
आश्रित्याप्यधरतरां भूमिं
नाद्यापि चित्रमुज्झामि ॥ २ ॥

विभिन्न ब्रह्मादि देवताओं का सोपानक्रम से अतिक्रमण कर प्रासव्य परमशिव के चरण-कमलों का आश्रय लेकर-भलीभाँति समाहित होकर, बड़े आश्चर्य की बात यह है कि मैं आज भी अत्यन्त नीच अवस्था—मायीय देहादिप्रमातृता का परित्याग विवेकपूर्वक नहीं कर पाता हूँ ॥ २ ॥

विविधानि—ब्रह्मविष्णुरुद्रेश्वरसदाशिवशिवादिरूपाणि दैवतान्येव सोपानक्रमः । तमुल्लंध्य—विश्रांतिपदीकृत्य, उपेयस्य—उपगन्तव्यस्य आत्मसमीपे प्राप्तव्यस्य शिवस्य, चरणान्—मरीचीन्, आ—समन्तात् श्रित्वा—समावेशयुक्त्या स्वीकृत्यापि, चित्रं यदद्यापि अधरतरां भूमिं—व्युत्थानपतितां मायीयदेहादिप्रमातृतां न त्यजामि । दैवतानां सोपानक्रमेण अनुपादेयतां भगवतस्तु चरणसमाश्रयेणोपादेयतमतां प्रकाशयन्नात्मनस्तत्समाश्रयेण श्लाघ्यतां ध्वनति ॥ २ ॥

प्रकटय निजमध्वानं
स्थगयतरामखिललोकचरितानि ।
यावद्भवामि भगवं-
स्तत्र सपदि सदोदितो दासः ॥ ३ ॥

हे भगवन् ! जब तक मैं आप की सेवा-पूजा में निरन्तर तत्पर होकर शक्तिपात से शीघ्र ही दास न बन जाऊँ । तब तक ही अपनाशाक्त मार्ग अभिव्यक्त करें और समस्त लोक्यलोकयितृरूप लोक-व्यवहारों को अच्छी तरह स्थगित करें ॥ ३ ॥

निजमध्वानं—स्वं शाक्तं मार्गम्, अखिलस्य—लोक्यलोकयितृरूपस्य, लोकस्य—मेयमातृवर्गस्य सदाशिवान्तस्य चरितानि स्थगय्रतरां—निःशेषेण नाशय । यावत् तव सदोदितो दासो भवामि—त्वच्चरणसपर्यापरो नित्यसमाविष्टः स्फुरामि इति यावत् ॥ ३ ॥

शिव शिव शम्भो शङ्कर
शरणागतवत्सलाशु कुरु करुणाम् ।
तव चरणकमलयुगल-
स्मरणपरस्य हि सम्पदोऽदूरे ॥ ४ ॥

हे मङ्गल-स्वरूप शिव ! हे सुखप्रदायक ! हे भक्तों का कल्याण करनेवाले ! हे शरणागतवत्सल देव ! मुझ दिनकिंकर पर अविलम्ब ही करुणा कीजिये, इसलिये कि आप के चरण-कमलयुगल—ज्ञानक्रियामय मरीचिद्वय का स्मरण करने में तत्पर मुझ से समावेशसार परमानन्दमयी सम्पदाएँ कहीं दूर नहीं हैं ॥ ४ ॥

तवचरणयुगल—ज्ञानक्रियामयमरीचिद्वयम् । सम्पदः—समावेशसारा परमानन्दमय्यः । अदूरे—निकटे ॥ ४ ॥

तावकाङ्घ्रिकमलासनलीना
ये यथारुचि जगद्रचयन्ति ।
ते विरिञ्चिमधिकारमलेना-
लिप्तमस्ववशमीश हसन्ति ।। ५ ।।

हे ईश-स्वतन्त्र ! जो लोग आपके पाद-पद्मों के निकट सुखपूर्वक रहते हैं और अपनी इच्छानुसार विश्व की रचना करते हैं। वस्तुतः वे लोग अपने में मिथ्या अधिकार की कल्पना कर उन्मत्त हो गये हैं। अत एव ऐसे पराधीन हुए ब्रह्मा पर भी हँसते हैं आशय यह है कि आप को छोड़ कर अधिकार विकार से लिप्त हुए उनके लिये ब्रह्मा भी हास्यापद हैं ।। ५ ।।

संकोचविकासपरत्वन्मरीचिविश्रान्ताः, तत एव आस्वादितस्वातन्त्र्याः, यथारुचि—करणेश्वरीप्रसरयुक्त्या ये जगद्रचयन्ति ते विरिञ्चि—ब्रह्माणम् अधिकारमलेन आ—समन्तात् लिप्तमत एव नियतिपरतन्त्रत्वादस्ववशम्—अस्वतन्त्रम्। हे ईश—स्वतन्त्र। हसन्ति—कमलासनोऽपि तेषां हासास्पद-मित्यर्थः ।। ५ ।।

त्वत्प्रकाशवपुषो न विभिन्नं
किंचन प्रभवति प्रतिभातुम् ।
तत्सदैव भगवन् परिलब्धो-
ऽसीश्वर प्रकृतितोऽपि विदूरः ।। ६ ।।

हे भगवन् ! जबकि आपके ज्ञानप्रकाश शरीर से व्यतिरिक्त किञ्चित् मात्र भी प्रतिभासित नहीं हो सकता है। इसी से हे ईश्वर ! आप स्वाभाविक हम लोगों से दूर रहते हुए भी सदैव अन्तर्यामी रूप से उपलब्ध हों। जैसा कि स्पन्दशास्त्र में कहा गया है।

प्रमातृस्वभाव जीवात्मा सर्वात्मक होता है इसी से भगवान् परमशिव-स्वरूप वाच्य-वाचक अर्थों में सर्वत्र रहते हैं ऐसी कोई भी आधिमध्यान्त अवस्था देखने में नहीं आती है जिसमें शिवतत्त्व अनुस्यूत नहीं है। अत एव भोक्ता-चिदात्मा ही सर्वत्र, विचित्र उस-उस वस्तु विशेष में अवस्थित है। भोक्ता से भिन्न भोग्य वस्तु नहीं है। इसलिये जीव एवं शिव का लेशमात्र भी भेद नहीं है। सभी दृश्यमान वस्तुसमूह परमतत्त्व से ही प्रादुर्भूत है; जबकि जीव से ही यह नामरूपात्मक विश्व उदय होता है। इसलिये जीवात्मा का सर्वमयत्व मानना चाहिये ।। ६ ।।

हे ईश्वर असि त्वं प्रकृतितः विदूरोऽपि—स्वरूपगोपनादप्राप्योऽपि सदैव परिलब्धः अस्माभिरिति शेषः। यतः यत्किंचित्प्रतिभातुं प्रभवति भासते, तत्त्वतः प्रकाशवपुषश्चिद्रूपात् न भिन्नं प्रकाशमयस्यैव प्रकाशार्हत्वात्। यथोक्तम्

'यस्मात्सर्वमयो जीवः··· ।' स्पं० २ नि० श्लो० ३ ॥ इत्यादि।

'भोक्तैव भाग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः'। स्पन्द० २ नि० श्लो० ४ ॥ इत्यन्तम् ॥ ६ ॥

पादपङ्कजरसं तव केचिद्
भेदपर्युषितवृत्तिमुपेताः ।
केचनापि रसयन्ति तु सद्यो
भातमक्षतवपुर्द्वयशून्यम् ॥ ७ ॥

हे प्रभो ! कुछ द्वैतवादी लोग स्वरूप अप्रथनात्मक भेदरूपी नीरस वृत्तिपूर्वक आप के ज्ञानक्रियामरीचिद्वयरूप चरण कमलों का रसास्वादन लेते हैं। किन्तु कुछ अद्वैतवादी परशक्तिपात से पवित्र हुए सद्य प्रकाशित अक्षयस्वरूप भेदशून्य चिदानन्दैकघन का आनन्दरस लूटते हैं ॥ ७ ॥

तव ज्ञानक्रियामरीचिद्वयमयचरणकमलरसं केचित्—द्वैतनिष्ठाः, भेदेन पर्युषिता—झगिति उपभोगानासादनेन शुष्कीकृतप्राया वृत्तिः—स्वरूपं यस्य तमुपेताः—प्राप्ताः, न तु सद्य आस्वादयन्ति। केचित्पुनः—परशक्तिपातपवित्रिताः सद्यो भातं—झगिति उपनतम् अक्षतवपुषं—नित्यस्फुरत्स्वरूपं द्वयशून्यं—चिदानन्दैकघनं रसयन्ति—चमत्कुर्वन्ति । केचिदिति अपकर्षं केचनापीति उत्कर्षं ध्वनति ॥ ७ ॥

नाथ विद्युदिव भाति विभाते
या कदाचन ममामृतदिग्धा ।
सा यदि स्थिरतरैव भवेत्तत्
पूजितोऽसि विधिवत्किमुतान्यत् ॥ ८ ॥

हे नाथ ! परमानन्द अमृतरस से उपचिता जो आप की विभा-दिव्यकान्ति है वह मुझे समाधिकाल में अथवा व्युत्थानदशा में भी विद्युत्-सी प्रकाशित होती रहे।

इस प्रकार की प्रभा यदि मेरे लिये अधिक देर तक स्थिर रह जाती, तो फिर आप मुझ से यथाविधि पूजित हो सकते हैं। इस से अधिक मेरे लिये क्या वाञ्छनीय हो सकता है ॥ ८ ॥

हे नाथ ! तव विभा—परः शाक्तः स्पन्दः । अमृतदिग्धा—परमानन्दोपचिता । विद्युदिव—क्षणमात्रं या कदाचिन्ममावभाति—समावेशेन स्फुरति, सा यदि बलवद्व्युत्थानमपहस्त्य नित्योदिता स्यात्, तद्विधिवत्—यथातत्त्वं पूजितोऽसि । किमुतान्यत् परिसमाप्तं करणीयं कृतकृत्यता च जायते इत्यर्थः ॥ ८ ॥

सर्वमस्य परमस्ति न किंचिद्
वस्त्ववस्तु यदि वेति महत्या ।
प्रज्ञया व्यवसितोऽत्र यथैव
त्वं तथैव भव सुप्रकटो मे ॥ ९ ॥

हे देव ! सत् वस्तु अथवा असत् वस्तु सब में तो आप का ही स्वरूप है, इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इस प्रकार विमलबुद्धिपूर्वक आपके विषय में मैंने जो भी निर्णय लिया है, इसी स्वरूप में आप मेरे अन्तर्जगत् में प्रकाशित हो जायें ॥ ९ ॥

असि त्वं सर्वम् । अपरं वस्तु यदि वावस्तु न किंचिदस्ति, सर्वस्य चिद्घनत्वात् प्रकाशमयत्वेन प्रकाशनात् । इत्येवं शुद्धविद्यामय्या यथैव महत्या प्रज्ञया अत्र—जगति त्वं निश्चितस्तथैव मे सुष्ठु—व्युत्थानेऽपि समावेशवशात् प्रकटो भव ॥ ९ ॥

स्वेच्छयैव भगवन्निजमार्गे
कारितः पदमहं प्रभुणैव ।
तत्कथं जनवदेव चरामि
त्वत्पदोचितमवैमि न किंचित् ॥ १० ॥

हे भगवन् ! आप परमात्मा ने ही किसी अन्य ने नहीं, अपनी निरपेक्ष स्वातन्त्र्यशक्ति से मैंने अपने कदम परशाक्तमार्ग में रखे हैं। इसलिये क्या बात है कि मैं पामरपशु के समान व्युत्थानकाल में आचरण करता हूँ और आप की पदवी के अनुरूप थोड़ा-सा भी आचरण नहीं कर पाता हूँ और न मुझे आप के चित्स्वरूप के विषय में पूर्णतया जानकारी है ॥ १० ॥

हे भगवन् ! अहं प्रभुणव—न तु अन्येन केनचित् । स्वेच्छयैव—निरपेक्षशक्तिपातयुक्त्या, निजमार्गे—विकस्वरस्वशक्तिवर्त्मनि पदं कारितः—विश्रान्तिं लम्भितः । तत्कथं जनवदेव—लोकवदेव चरामि—व्युत्थाने व्यवहरामि । त्वत्पदोचितं—त्वन्मरीचिपरिचयसमुचितं समावेशवशान्न किंचिदवगच्छामि ॥ १० ॥

कोऽपि देव हृदि तेषु तावको
जृम्भते सुभगभाव उत्तमः ।
त्वत्कथाम्बुदनिनादचातका
येन तेऽपि सुभगीकृताश्चिरम् ॥ ११ ॥

हे देवाधिदेव ! आप के चित्स्वरूप का कुछ विलक्षण उत्तम सुभगभाव भक्तजनों के हृदय में उदित होता है । जिस से वे शिवसम्बन्धी कथारूपी मेघमण्डली की गड़गड़ाहट का अभिलाषी चातक भी दीर्घकाल पर्यन्त अपने आप में समाहित हो कर विलीन हो जाते हैं ॥ ११ ॥

हे देव ! तेषु—केषुचित्प्रागुक्तभक्तिमत्सु हृदि तावकः उत्तमः—उत्कृष्टः सुभगभावः कोऽपि उच्छलदानन्दरसोल्बणत्वं किमपि जृम्भते, येन तेऽपीति—समावेशे सम्भिन्नहृदया अपि, अत एव त्वत्कथैव अम्बुदनिनादः, तत्र चातका इव—समावेशशालिप्रतन्यमानशिवकथाकर्णनप्रहृष्टहृदया अपि चिरं सुभगीकृताः—समावेशभूमिं लम्भिताः । यत्कथामात्रेण समावेशोऽवतरतीत्यर्थः ॥ ११ ॥

त्वज्जुषां त्वयि कयापि लीलया
राग एष परिपोषमागतः ।
यद्वियोगभुवि सङ्कथा तथा
संस्मृतिः फलति संगमोत्सवम् ॥ १२ ॥

हे करुणाकर शिव ! आप की प्रीतिपूर्वक सेवा करने वाले भक्तवृन्द का आप के विषय में प्रगाढ अनुराग है और इसी के बल से इतना बढ़ जाता है कि उनके लिये वियोग—व्युत्थान दशा में भी चित्स्वरूपसम्बन्धी विचारणा एवं स्मृति चित्संगम महोत्सव को उत्पन्न करती है ॥ १२ ॥

कयापीति—अनुत्तरसमावेशशालिन्या लीलया त्वज्जुषां—त्वां प्रीत्या सेवमानानाम्। एष इति—असामान्यो रागः परिपोषं प्राप्तः। यद्वियोगभुवि—व्युत्थाने। संकथा संस्मृतिश्च कर्त्री संगमोत्सवं—संभोगदशां फलति। वियोगभुवि संगमोत्सवम्—इत्युक्त्या अलौकिकत्वमनुरागस्य ध्वनति ॥ १२ ॥

यो विचित्ररससेकवर्धितः
शङ्करेति शतशोऽप्युदीरितः।
शब्द आविशति तिर्यगाशये-
ष्वप्ययं नवनवप्रयोजनः ॥ १३ ॥

ते जयन्ति मुखमण्डले भ्रमन्
अस्ति येषु नियतं शिवध्वनिः।
यः शशीव प्रसृतोऽमृताशयात्
स्वादु संस्रवति चामृतं परम् ॥ १४ ॥

अपने स्वरूपसमावेश का अनुपम आनन्दरस सींचने से अभिवर्धित सैकड़ों बार उच्चारण किया हुआ जो यह कल्याणकर शङ्कर शब्द पामर पशुओं की भाँति मूढजनों के हृदय देशों में अलौकिक प्रयोजन से युक्त होकर प्रकाशित होता है। एवं जो यह 'शिव' शब्द चन्द्रमा की भाँति अमृतमय कला से प्रसृत हो कर मधुर और अनुपम अमृत बहाता है। वही 'शिव' 'शिव' इस प्रकार की मधुरध्वनि जिन लोगों के मुखमण्डल में दृढनिश्चयपूर्वक घूमती हुई रहती है, वे लोग कृतकृत्य हो गये हैं। १३-१४।

यो विचित्रेति ते जयन्तीति युगलकम्। ते जयन्ति येषु मुखमण्डले नियतं—निश्चितं कृत्वा भ्रमन् शिवध्वनिरस्ति। यः स्वादु परं चामृतं सम्यक् स्रवति—आनन्दरसं समुच्छलयति। कीदृक्? अमृताशयात् साक्षात्कृतचिद्घनपरमेश्वरस्वरूपात् प्रसृतः—स्वरसेनोच्चारितः, यथा अमृताशयात् शशी—चन्द्रमाः प्रसृतः मण्डले स्फुरन्, परं स्वाद्वमृतं स्रवति। यश्चैव विचित्रेण समावेशरससेकेन वर्धितः, अत एव शतशोऽप्युदीरितः शङ्करेत्ययं शब्दः, तिर्यगाशयेषु — पशुहृदयेष्वपि, नवनवप्रयोजनः — प्रतिक्षणं तत्तदपूर्वचमत्कारकारी, आविशति परिस्फुरति ॥

परिसमाप्तमिवोग्रमिदं जगद्
विगलितोऽविरलो मनसो मलः ।
तदपि नास्ति भवत्पुरगोपुरा-
र्गलकवाटविघट्टनमण्वपि ॥ १५ ॥

हे कल्याणकर शिव ! यह दृश्यमान रागद्वेष से संयुक्त अत्युग्र विश्व परिसमाप्त सा ही है; इसलिये समाविष्ट योगी को बाह्य विश्व प्रतीत नहीं होता है केवल संस्कार-रूप से ही अवशिष्ट रहता है। इसी कारण मेरे मन का बड़ा भारी मल-विकार विगलित हो चुका है, ऐसी स्थिति में भी आपकी शिवनगरी के गोपुर का अर्गला बद्ध किवाड़ थोड़ा-सा भी नहीं खुलता है ॥ १५ ॥

प्रस्फुरत्प्रत्यग्रसमावेशसंस्कारस्य व्युत्थानभूमिमवतितीर्षोरियमुक्तिः । उग्रं—भेदमयत्वाद्भीषणम् । जगत्—विश्वं, परिसमाप्तमिव । समाविष्टस्य हि न बाह्यं विश्वं विभाति, अथ च संस्कारशेषतया आस्ते इति इव शब्दः । मनसश्च अविरलो—घनः मलः—अविद्याकलात्मा विगलितः । तथापि निःशेषशान्ताशेषविश्वमयप्रफुल्लमहाविद्योद्यज्जगदानन्दमयस्य पूरकत्वात्पुर-रूपस्य यद्गोपुरं—पुरद्वारं, परमशक्तिरूपं, तत्र अर्गलयुक्तकवाटविघट्टनम्—अतिदृढाख्यातिपुटविपाटनं मम मनागपि नास्ति । अनेन प्रविगलित-निःशेषदेहादिसंस्कारां परां भूमिमेवोपादेयत्वेन ध्वनति । यदुक्तं

'सर्वथा त्वन्तरालीनानन्ततत्त्वौघनिर्भरः ।
शिवः चिदानन्दघनः परमाक्षरविग्रहः ॥'

प्र० ४ अ०, १ आ० १४ का० ॥

इत्यादि श्रीप्रत्यभिज्ञायाम् ।

'सर्वातीतः शिवो ज्ञेयो यं विदित्वा विमुच्यते' ।

इति श्रीपूर्वशास्त्रे ॥ १५ ॥

सततफुल्लभवन्मुखपङ्कजो-
दरविलोकनलालसचेतसः ।
किमपि तत्कुरु नाथ मनागिव
स्फुरसि येन ममाभिमुखस्थितिः ॥ १६ ॥

हे दिनकिंकर प्रभो ! नित्य प्रफुल्लित रहनेवाला आप के मुख पंकज के मध्यभाग का दर्शन करने लिये मेरा मानस सदैव उत्कण्ठित रहता है, अतः मुझ दास पर थोड़ा-सा अनुग्रह कीजिये, जिससे मेरे आन्तर अवस्थित चित्स्वरूप अभिव्यक्त हो जाये। जैसा कि विज्ञान भैरव में कहा है—

जव पराशक्तिस्वरूप से अभेद हो जाता है तब उसमें निर्विभाग भावना उत्पन्न हो जाती है अर्थात् शिव और शक्ति में उसकी भेद दृष्टि समाप्त हो जाती है। उस काल में योगी में शाक्तवल का संचार होने लगता है। शिव की यह शक्ति उस परम सुन्दर स्वरूप में प्रवेश पाने का द्वार है। जैसे मुख देखने से किसी व्यक्ति की पहचान हो जाती है इसी प्रकार पराशक्ति को जान कर उसके माध्यम से शिव को जान लिया जाता है। अत एव यह शैवी शक्ति शिव का मुख कहलाती है ॥ १६ ॥

सततं फुल्लं-नित्यं विकसितं यत् त्वन्मुखकमलम्

'शक्तचवस्था प्रविष्ठस्य निर्विभागेन भावना।

तदासौ शिवरूपी स्यात् शैवीमुखमिहोच्यते ॥' वि० भै० श्लो२० ॥

इति स्थित्या त्वत्पराशक्तिरूपं यत्पद्मं, तस्य यदुदरं-मध्यं, परं तावकं परशक्तिसामरस्यमयं शाम्भवं रूपं, तस्य विलोकन-समावेशः, तत्र लालसं—सतिशयाभिलाषं चेतो यस्य, तस्य मे, किमपि तत्—असंभाव्यमुपायप्रदर्शनं, मनागिव—हेलामात्रेण कुरु, येन ममाभिमुखस्थितिः सन् स्फुरसि ॥ १६ ॥

त्वदविभेदमतेरपरं नु किं
सुखमिहास्ति विभूतिरथापरा।
तदिह तावकदासजनस्य किं
कुपथमेति मनः परिहृत्य ताम् ॥ १७ ॥

हे ईश ! दुःखाक्रान्त विश्वप्रपञ्च नें आप शिव से अभेद भावना का परित्याग कर कौन-सा दूसरा सुख देखा जाता है और इसके अतिरिक्त दूसरी कौन-सी संपदा हो सकती है; क्योंकि आत्मतत्त्व को छोड़ कर सब तो सातिशय है। अतः आपके सेवक का मन उस अभेदवुद्धि को छोड़ कर कुत्सितमार्ग का अनुगमन क्यों करेगा ? ॥ १७ ॥

समावेशस्फुरितायास्त्वदद्वयसंविदः अपर सुखं—विभूत्यादि च न किंचिदस्ति; तस्या एव सर्वातिशयित्वात्। ततः किमिति तावकदास-जनस्य तां—त्वदविभेदसंविदं परिहृत्य, मनः कुपथमेति—व्युत्थान-भूमिमेवाधावति ॥ १७ ॥

क्षणमपीह न तावकदासतां
प्रति भवेयमहं किल भाजनम् ।
भवदभेदरसासवमादरा-
दविरतं रसयेयमहं न चेत् ॥ १८ ॥

हे परमशिव ! यदि मैं अत्यन्द श्रद्धाभक्तिपूर्वक निरन्तर आपके अभेदरस-अद्वैतानन्दरसरूपी आसव का आस्वादन न करता रहूँ, तो फिर मैं यहाँ आप की दासता का पात्र एकक्षण भी निश्चित है कि नहीं हो सकता हूँ ॥ १८ ॥

यदि भवदद्वयानन्दरसासवम् अहमविरतं नास्वादयेयं, तत्तव दासतां प्रति क्षणमपि भाजनं न भवेयम्;—आनन्दघनत्वत्स्वरूपापरिचितत्वात् ॥ १८ ॥

न किल पश्यति सत्यमयं जन-
स्तव वपुर्द्वयदृष्टिमलीमसः ।
तदपि सर्वविदाश्रितवत्सल:
किमिदमारटितं न शृणोषि मे ॥ १९ ॥

हे करुणाकर देव ! यह सत्य है कि भेदभाव को प्रास हुआ यह जीवात्मा निश्चित है कि आप के प्रकाश शरीर का दर्शन नहीं कर सकता है, फिर भी सर्ववेत्ता-सर्वज्ञ भक्तवत्सल-भक्तजनों के अनुकूल होते हुए यह मेरी तुच्छ प्रार्थना को क्यों नहीं सुनते हों ॥ १९ ॥

अयं तावज्जनः भेददृष्टिमलीमसत्वात् तव सत्यं चिद्घनं वपुः न पश्यति। तथापि त्वं सर्ववित्—सर्वज्ञः । आश्रितवत्सलः—भक्तानुकूलः। अत एव स्वयमेवोचितस्वात्मदर्शनदानेऽपि मे किमिति, आरटितम्—आक्रन्दितं न शृणोषि । दर्शनं तावत् झगिति, मम आरटितं—भक्तिविवशचित्तस्य आक्रन्दितमात्रं तु शृणु—इति प्रार्थ्यते ॥ १९ ॥

स्मरसि नाथ कदाचिदपीहितं
विषयसौख्यमथापि मयार्थितम् ।
सततमेव भवद्वपुरीक्षणा-
मृतमभीष्टमलं मम देहि तत् ॥ २० ॥

हे नाथ ! क्या आप को यह स्मरण है कि मैंने कभी भी विषयसम्बन्धी सुख की स्पृहा रखी है अथवा उन विषयों के प्रति लोलुपता है। वास्तविकता तो यह है कि मुझ किंकर को तो केवल आप के चित्स्वरूप का दर्शनरूपी अमृत ही सदैव प्रिय है। अतः वही मुझे दीजिये ॥ २० ॥

ईहितं—चिष्टतं प्रयत्नेनार्जितं, अथाप्यर्थितं—काङ्क्षितं कदाचिदपि मया विषयसौख्यमिति नाथ स्मरसीति नियंन्त्रणोक्त्या गाढप्रभुपरिचयं ध्वनति। केवलं मम सदैव भवद्वपुरीक्षणामृतं—त्वत्स्वरूपप्रकाशनरसायनम् अलमभीष्टम्। तदेव च देहि—प्रयच्छ ॥ २० ॥

किल यदैव शिवाध्वनि तावके
कृतपदोऽस्मि महेश तवेच्छया।
शुभशतान्युदितानि तदैव मे
किमपरं मृगये भवतः प्रभो ॥ २१ ॥

हे महेश ! वस्तुतः जिस स्थिति में भी मैंने आप की इच्छामात्र से परशाक्त मार्ग पर पदार्पण किया है। उस काल में ही मेरे लिये सैकड़ों प्रकार के मंगल का आविर्भाव हुआ है। अत एव हे प्रभो ! मैं आप से इससे अधिक क्या चाहूँगा ? ॥२१॥

शिवाध्वनि—श्रेयःशतशालिनि परे शाक्ते मार्गे, कृतपदः—प्राप्तविश्रान्तिः ॥ २१ ॥

यत्र सोऽस्तमयमेति विवस्वाँ-
श्चन्द्रमः प्रभृतिभिः सह सर्वैः।
कापि सा विजयते शिवरात्रिः
स्वप्रभासरभास्वररूपा ॥ २२ ॥

जहाँ वह प्राणरूपी सूर्य एवं अपानरूपी चन्द्रमा आदि समस्त विकल्परूपी नक्षत्रगण सहित अस्त हो जाता है, वह अपने चित्प्रकाश रूपिणी प्रभा के प्रसर से भासमान किसी लोकोत्तर शिवरात्रि-शिवसमावेशभूमि अर्थात् समस्त मायीयभेदप्रथा का संहार करने वाली महाशिवरात्रि धन्य है ॥ २२ ॥

सा कापि—लोकोत्तरा, शिवरात्रिः—शिवसमावेशभूमिः, समस्त-मायीयप्रथायाः संहरणाद्रात्रिरिव रात्रिः। कीदृशी ? स्वप्रभाप्रसरेण—चित्प्रकाशजृम्भणेन भासनशीलं रूपं यस्यास्तादृशी। स इति—अशेष-

प्रपञ्चप्रथमाङ्कुरः विवस्वान्—प्राणः। चन्द्रमः—प्रभृतिभिः—अपानादिभिः सह अस्तमयमेति—प्रशाम्यति। यदि वा विवस्वान्—प्रमाण-प्रकाशः। चन्द्रमः-प्रभृतयः—प्रमेयादयः॥ २२॥

अप्युपार्जितमहं त्रिषु लोके-
ष्वाधिपत्यममरेश्वर मन्ये।
नीरसं तदखिलं भवदङ्घ्रि-
स्पर्शनामृतरसेन विहीनम्॥ २३॥

हे अमरेश्वर शिव! मैं आप के चरणारविंद के संस्पर्शरूपी अमृतरस के बिना उपार्जित किये त्रिलोकी का उस समस्त आधिपत्य को भी नगण्य समझता हूँ॥२३॥

त्रैलोक्यराज्यमपि त्वन्मरीचिसंस्पर्शरसं विना विरसं मन्ये॥ २३॥

बत नाथ दृढोऽयमात्मबन्धो
भवदख्यातिमयस्त्वयैव क्लृप्तः।
यदयं प्रथमानमेव मे त्वा-
मवधीर्य श्लथते न लेशतोऽपि॥ २४॥

हे नाथ! अहो! आपके द्वारा विरचित जो स्वरूप गोपनमय अख्याति भेद-दशा है वह एक अज्ञान की दृढग्रन्थि है इसलिये यह प्रकाशमान होनेवाली आप की अवहेलना कर थोड़ी-सो भी शिथील नहीं होती है॥ २४॥

आश्चर्यम् अयमात्मबन्धो—देहादिषु प्रमातृताभिमानः त्वदप्रथारूपः। त्वयैव—अतिदुर्घटकारिणा दृढः क्लृप्तः। न त्वत्र अन्यस्य शक्तिः। यस्मान्मम त्वां प्रथमानमेव—समावेशे भान्तमेव अवधीर्य—न्यग्भाव्य लेशतोऽपि न श्लथते—व्युत्थाने प्राधान्यमेवावलम्बते इत्यर्थः॥ २४॥

महतामरेश पूज्यमानो-
ऽप्यनिशं तिष्ठसि पूजकैकरूपः।
बहिरन्तरपीह दृश्यमानः
स्फुरसि द्रष्टृशरीर एव शश्वत्॥ २५॥

हे अमरेश ! आप सदैव पूजे जाते हुए भी महान् पुरुषों के लिये केवल पूजक के रूप में ही देखे जाते हैं। इस विश्व में आन्तर एवं बाह्य रूप से दृश्यमान होते हुए भी द्रष्टशरीर-साक्षी के रूप में ही स्फुरित होते हों ॥ २५ ॥

इतिश्री सर्वदर्शनाचार्य-श्रीकृष्णानन्दसागरकृत-हिन्दीव्याख्या-स्तवरञ्जनी ।

बहिरन्तः—पूजाद्यवसरे । आपाते भेदेनैव प्रकाशमानत्वात् पूज्यमानो दृश्यमानश्च, त्वममरेश—देवेश, महतां—भक्तिमतां पूजकैकरूपो द्रष्टृशरीरश्च, समावेशसामरस्योद्‌बोधमयप्रमात्रेकरूपस्तिष्ठसि—स्फुरसि चेति शिवम् ॥ २५ ॥

इति श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितस्तोत्रावलौ सुरसोद्‌बलनामके चतुर्थे स्तोत्रे श्रीक्षेमराजाचार्यकृता विवृतिः ।

अथ

पञ्चमं स्तोत्रम्

त्वत्पादपद्मसम्पर्कमात्रसम्भोगसङ्गिनम् ।
गलेपादिकया नाथ मां स्ववेश्म प्रवेशय ।। १ ।।

हे दिनकिंकर शिव ! आप के पाद-पद्मों के स्पर्शरूपी समावेश आस्वादन में तत्पर हुए मुझ अनाथ को हठशक्तिपात की योगप्रक्रिया के क्रम से अपने शिवधाम में प्रवेश करा दीजिये ।। १ ।।

पादाः—मरीचयः । सम्पर्कमात्रसम्भोगः—समावेशास्वादः । गले-पादिका—हठशक्तिपातक्रमः । स्ववेश्म—चित्स्वरूपमौचित्यात् । १ ।।

भवत्पादाम्बुजरजोराजिरञ्जितमूर्धजः ।
अपाररभसारब्धनर्तनः स्यामहं कदा ।। २ ।।

हे परमात्मन् ! मैं आप के चरण-कमलों की पावन पांशु पुञ्ज से रञ्जित केशों से युक्त हो कर अपार हर्ष के साथ प्रारम्भ किये जाने वाला नृत्य कब करने लगूं ? ।। २ ।।

भवदीयेन पादाम्बुजरजसा अनुग्रहप्रवृत्तपरशक्तिकमलपरागेण, रञ्जितमूर्धजः—अधिवासितान्तःप्रसरः तदूर्ध्वमध्यशक्त्यङ्कुरः । तत एव प्रहर्षवशादपारम्—अपर्यन्तं, रभसारब्धं—झगिति प्रवर्तितं, नर्तनं—गात्रविक्षेपो मायाप्रमातृताविधूननं येन । नित्यसमावेशविकस्वर-तामाशास्ते ।। २ ।।

त्वदेकनाथो भगवन्नियदेवार्थये सदा ।
त्वदन्तर्वसतिर्मूको भवेयं मान्यथा बुधः ।। ३ ।।

हे भगवन् ! आप ही एकमात्र अनाथों के नाथ-स्वामी हों । अतः मैं इतना ही आप से सदा चाहता हूँ कि आप के चित्स्वरूप में रहता हुआ मूक-गूंगा ही बना रहूँ । किन्तु इस से विमुख हो कर सकलशास्त्रनिष्णात विद्वान् भी मुझे नहीं बनना है ।। ३ ।।

इयदेव—नापरमर्थये । यत्त्वमेवैको नाथो—नाथ्यमानः समभिलषणीयो यस्य सः । त्वदन्तर्वसतिः—चिद्घनत्वत्स्वरूपसमाविष्टो मूकोऽपि स्याम् । अन्यथा बुधः—विद्वानपि माभूवम् ॥ ३ ॥

अहो सुधानिधे स्वामिन् अहो मृष्ट त्रिलोचन ।
अहो स्वादो विरूपाक्षेत्येव नृत्येयमारटन् ॥ ४ ॥

हे स्वामिन् ! हे सुधानिधे ! हे मृष्ट ! हे अविछिन्न माधुर्य ! हे विरूपाक्ष ! इस प्रकार आपके पावन नामों का रटन करता हुआ मैं सदैव अन्तर में नृत्य करता रहूँ ॥ ४ ॥

प्राग्वन्नित्यसमाविष्टतामाशास्ते । सुधानिधे—आनन्दाब्धे । मृष्ट—चमत्कारपदपतित । स्वादो—अविच्छिन्नमाधुर्य । नृत्येयमिति प्राग्वत् । आरटन्—स्फुटं परामृशन् ॥ ४ ॥

त्वत्पादपद्मसंस्पर्शपरिमीलितलोचनः ।
विजृम्भेय भवद्भक्तिमदिरामदघूर्णितः ॥ ५ ॥

हे परमशिव ! आप के चरण-कमलों के शक्तिपात से अपने आत्मस्वरूप में स्थित हो कर ज्ञानरूपी तृतीयनेत्र से परिशोधित अन्त.करण वाला मैं आप की निर्मल-भक्तिरूपी मदिरा के मद से मस्त होकर नाचता रहूँ ॥ ५ ॥

त्वच्छक्त्यानन्देन अन्तर्मुखीकृतकरणः । विजृम्भेय—चित्स्वरूपोन्मज्जनाद्गात्रं विनमयेय चिद्गुणीभावं नयेयम् । कीदृक् ? भवति साक्षात्कृते, या भक्तिः—आसेवा, सैव मदिरामदः—कादम्बरीचमत्कारः, तेन घूर्णितः—महाव्याप्तिं लम्भितः ॥ ५ ॥

चित्तभूभृद्भुवि विभो वसेयं क्वापि यत्र सा ।
निरन्तरत्वत्प्रलापमयी वृत्तिर्महारसा ॥ ६ ॥

हे सर्वव्यापक देव ! चित्तरूपी पर्वत की भूमि के किसी निर्जन प्रदेश में निवास करूँ, जहाँ पर स्थित हो कर निरन्तर आपके चित्स्वरूप का विमर्शन करनेवाली वह विलक्षण समावेश चिदानन्दरूपिणी स्वरूपात्मकवृत्ति मुझे सदैव प्राप्त होती रहे ॥ ६ ॥

चित्तमेव अनुल्लङ्घ्यत्वववासनाश्रयत्वकठोरत्वादिभिः भूभृत् । तस्य सम्बन्धिन्यां कस्यांचिद्विवेकप्रदायां भुवि—भूमिकायां, वसेयम्, यत्र सा इति—प्राक् परिशीलिता, महारसा—समावेशानन्दमयी, निरन्तरो—घनः, त्वत्प्रलापः—भवत्परामर्शः प्रकृतं रूपं यस्यास्तादृशी वृत्तिः—स्थितिः ॥ ६ ॥

यत्र देवीसमेतस्त्वमासौधादा च गोपुरात् ।
बहुरूपः स्थितस्तस्मिन्वास्तव्यः स्यामहं पुरे ॥ ७ ॥

हे कल्याणकर देव ! जिस शिवपुरी में भगवती आद्या शक्ति के साथ आप आन्तर सुधासमूहरूपी विशाल प्रतिभालक्षणधाम से आरम्भ कर इन्द्रियों के विषयरूपी गोपुरपर्यन्त विविध स्वरूपों को धारण कर अवस्थित हैं। मैं उसी शिवपुरी में निवास करूँ ॥ ७ ॥

तस्मिन् पुरे—त्वदीये पूरके चिदात्मनि रूपे, वास्तव्यः—समाविष्टः स्याम् । यत्र आसौधात्—आन्तरात्सुधासमूहरूपात् प्रतिभालक्षणादुच्चाद्धाम्नः आ च गोपुरात् —इन्द्रियविषयरूपाद्द्वारात्, त्वं देव्या—परशक्त्या समेतो—नित्यप्रमुदितः ।

'न सा जीवकला काचित्········।'

इत्यादिनीत्या वससि । बहुरूपः—विश्वात्मा । अत्र अनुरणनशक्त्या लौकिकेश्वरपरिचर्यार्थः स्पष्टः । तथोत्तरत्राप्यनुसर्तव्यः ॥ ७ ॥

समुल्लसन्तु भगवन् भवद्भानुमरीचयः ।
विकसत्वेष यावन्मे हृत्पद्मः पूजनाय ते ॥ ८ ॥

हे भगवन् ! आप सूर्यदेव की दिव्यरश्मियाँ उस समय पर्यन्त उल्लासित हो कर अपनी प्रभा को फैलाती रहें, जिस समय तक यह मेरा हृत्पद्म-हृदयरूपी कमल आपकी पूजा के लिये पूर्णरूप से विकसित हो न जाये ॥ ८ ॥

मरीचयः—अनुग्राहिकाः शक्तयः । विकसतु—व्याप्तिमासादयतु । तव पूजनाय—त्वत्पदसमावेशाय । ८ ॥

प्रसीद भगवन् येन त्वत्पदे पतितं सदा ।
मनो मे तत्तदास्वाद्य क्षीवेदिव गलेदिव ॥ ९ ॥

हे षड्विध ऐश्वर्यसम्पन्न देव ! आप मुझ किंकर पर अनुग्रह कीजिये, जिससे आप के पाद-पद्मों में सदैव रहनेवाला मेरा चित्त जो वर्णन नहीं किया जा सकता है उन दिव्य अलौकिक दशाओं का रसास्वादन पा कर आनन्द-सा हो जाय और चित्स्वरूप में एकाग्र हो जाय ॥ ९ ॥

प्रसादः—अम्भस इव स्वयमेव आविलीभावशान्त्या नैर्मल्यगमनम्। एवमुत्तरत्र। त्वत्पदे—शाक्ते मार्गे, पतितं—लुठितम्। तत्तदिति—ते ते लोचने इति वर्णयितुमशक्यतां स्फीततां चास्वाद्य वस्तुनो ध्वनति। श्रीवेदिव गलेदिव इति ससन्देहोत्प्रेक्षया सम्भावनालिंगाच्च स्वानुभवसाक्षिकानुत्तरानन्दरसपरवशताशंसा ध्वनति ॥ ९ ॥

प्रहर्षाद्वाथ शोकाद्वा यदि कुड्याद्घटादपि।
बाह्यादथान्तराद्भावात्प्रकटीभव मे प्रभो ॥ १० ॥

हे प्रभवनशील शिव ! हर्ष अथवा शोक में से, दीवार या घर में से, आन्तर या बाह्य वस्तु में से जबकि कहीं से भी आप मेरे लिये प्रकट हो जाइये ॥ १० ॥

वाप्रभृतिशब्दैः यतः कुतश्चित्स्फुटीभव नास्माक क्व चिद्ग्रहः इत्याह। प्रभो सर्वतः प्रभवनशील ॥ १० ॥

बहिरप्यन्तरपि तत्स्यन्दमानं सदास्तु मे।
भवत्पादाम्बुजस्पर्शामृतमत्यन्तशीतलम् ॥ ११ ॥

हे भगवन् ! वह अत्यन्त चन्द्रवत् शीतल है एवं आन्तर और बाह्यरूप से भी स्यन्दमान आपके पादाम्बुज का संस्पर्शरूपी अमृत मुझ दास को सदैव मिलता रहे ॥ ११ ॥

पादाम्बुजं शीतलमित्यादि प्राग्वत् ॥ ११ ॥

त्वत्पादसंस्पर्शसुधासरसोऽन्तर्निमज्जनम्।
कोऽप्येष सर्वसम्भोगलङ्घी भोगोऽस्तु मे सदा ॥ १२ ॥

हे परमशिव ! आप के चरणारविंद क संस्पर्शरूपी सुधा सरोवर के मध्य में पूर्णतया डूबना यही एक पारमार्थिक सुख है और वही सारा परमानन्दरूपी भोग मुझ किंकर को सदैव मिलता रहे ॥ १२ ॥

त्वत्पादसंस्पर्शः—रुद्रशक्तिसमावेशः । स एव सुधासरः—रसायनाब्धिः । तत्र अन्तर्निमज्जनम्— निःशेषं ब्रुडनं यत्, एष मम कोऽपीति—असामान्यः भोगः सदा अस्तु । कीदृक् । सर्वान्—सदाशिवपर्यन्तान् भोगान् लङ्घयते—विरसत्वादभिभवति, तच्छीलः ॥ १२ ॥

निवेदितमुपादत्स्व रागादि भगवन्मया ।
आदाय चामृतीकृत्य भुङ्क्ष्वभक्तजनैः समम् ॥ १३ ॥

हे चिन्मयस्वरूप ! मुझ अपराधी से निवेदित रागद्वेषरूपी द्वन्द्व को आप अनुग्रह कर स्वीकार कीजिये । इस प्रकार उसे ग्रहण कर अपने ज्ञानस्वरूप से अमृतमय बना कर अर्थात् परशक्ति संस्पर्शरूपी अमृत से आप्लावित कर भक्तवृन्द के साथ उसका भोग लगाइये ।। १३ ॥

हे भगवन्—चिन्मयस्वात्मन् । आसंसारं यत् मयार्जितं रागादि, तद्वित्तशाठ्यादिविवर्जनया निवेदितं—त्वय्यर्पितं, निःशेषेण वेदित चेति । तत्स्वरूपमुपादत्स्व—गृहाण, स्वप्रकाशात्मतामधिष्ठाय समीपे कुरु । अमृतीकृत्येति—परशक्तिस्पर्शामृतेन आप्लाव्य । भक्तजनैः समम्—इत्युक्त्या स्वसमावेशव्याप्तिसमये समस्तभक्तानामपि तन्मयतामाशंसति ॥ १३ ॥

अशेषभुवनाहारनित्यतृप्तः सुखासनम् ।
स्वामिन् गृहाण दासेषु प्रसादालोकनक्षणम् ।। १४ ।।

हे सर्वेश्वर ! समस्त भुवनमण्डल का आहार करने से नित्यतृप्त आप हमलोगों के निमित्त सुखपूर्वक स्थित होकर प्रसन्नता से एक क्षण के लिये भी अवलोकन कीजिये ॥ १४ ।।

हे स्वामिन् अशेषभुवनाहारेण नित्यतृप्तः—परमानन्दघनः । दासेषु व्याख्यातरूपप्रसादालोकनावसरं गृहाण—प्रकाशाहंत्वमधिष्ठापय कीदृशं ? सुखेन आस्यते यत्र तत् आनन्दव्याप्तिमयम् ॥ १४ ॥

अन्तर्भक्तिचमत्कारचर्वणामीलितेक्षणः ।
नमो मह्यं शिवायेति पूजयन् स्यां तृणान्यपि ॥ १५ ॥

हे प्रभो ! अहंपरामर्शमयी आन्तर भक्ति के चमत्कार का चर्वण करने से अन्तर्मुख किये हुए इन्द्रियसमूह वाले मुझ रूप में स्थित भगवान् परमशिव को प्रह्वीभावपूर्वक नमस्कार हो अर्थात् 'नमः शिवाय' इस पञ्चाक्षर मन्त्र का जप करता हुआ मैं एक सामान्य तृण का भी पूजन शिवस्वरूप समझ कर करता रहूँ ॥ १५ ॥

अन्तः—पूर्णाहन्तायां भक्तिचमत्कारामीलितेक्षणः—इति प्राग्वत्। मह्यं—चिद्रूपाय शिवाय नमः—इति कृत्वा तृणान्यपि पूजयन् स्याम्—शिवतया परामृशेयम् ॥ १५ ॥

अपि लब्धभवद्भावः स्वात्मोल्लासमयं जगत् ।
पश्यन् भक्तिरसाभोगैर्भवेयमवियोजितः ॥ १६ ॥

हे स्वात्मन् ! आप से अभिन्नभाव प्राप्त हो कर इस परिदृश्यमान विश्व को अपने आत्मरूप में उल्लासित देखते हुए भी मैं भक्तिरस के चमत्कारों से कदापि दूर न रहूँ अर्थात् उन से मेरा संयोग सदैव बना रहे ॥ १६ ॥

लब्धो भवद्भावः—त्वदात्मैक्यं येन । अत एव स्वात्मनः—शिवरूपस्य उल्लास एव प्रकृतं रूपं यस्य, तथाविधं जगत्—विश्वं पश्यन्, भक्तिरसाभोगैः—समावेशप्रबलचमत्कारैः अवियोजितः स्याम्;—

.... ।

'तमनित्येषु भोगेषु योजयन्ति विनायकाः ॥' मा० वि०

इत्याम्नायस्थित्या मा कदाचित् स्वात्माभिमानविनायको भक्त्यन्तरायं मे कार्षीदिति यावत् ॥ १६ ॥

आकाङ्क्षणीयमपरं येन नाथ न विद्यते ।
तव तेनाद्वितीयस्य युक्तं यत्परिपूर्णता ॥ १७ ॥

हे नाथ ! जबकि आपको किसी अन्य वस्तु की कदापि स्पृहा नहीं रहती है। इसलिये आप के विषय में जो अद्वितीय पूर्णता समस्त लोक एवं वेद में कही गयी है वह सर्वथा युक्तियुक्त है ॥ १७ ॥

सर्वतो निराकांक्षत्वात् त्वमेव परिपूर्ण इत्यर्थः ॥ १७ ॥

हस्यते नृत्यते यत्र रागद्वेषादि भुज्यते ।
पीयते भक्तिपीयूषरसस्तत्प्राप्नुयां पदम् ॥ १८ ॥

हे परमशिव ! उस दिव्यपद को प्राप्त करूँ, जहाँ रह कर हँसा जाता है, नृत्य किया जाता है और राग-द्वेष आदि द्वन्द्वों को भोगा जाता है तथा अहर्निश भक्ति-पीयूषरस का भी पान किया जाता है ॥ १८ ॥

नृत्यते—अन्तःप्रहर्षभरेण देहादिप्रमातृता दोधूयते । भुज्यते—ग्रस्यते रागद्वेषादि—इत्यनेन पुर्यष्टकप्रमातृताया गुणीभाव उक्तः । पीयते—चमत्क्रियते भक्तिपीयूररसः—सामवेशानन्दरसः । सर्वस्य च हास्यनृत्यप्रधान-भोजनपानक्रिया स्पृहणीया । सात्विह अलौकिकत्वेनोक्ता ॥ १८ ॥

तत्तदपूर्वामोदत्वच्चिन्ता-
कुसुमवासना दृढताम् ।
एतु मम मनसि याव-
न्नश्यतु दुर्वासनागन्धः ॥ १९ ॥

हे करुणाकर देव ! उस विचित्र एवं अपूर्व आनन्द से युक्त आप के विचाररूपी कुसुम की सुगन्धि मेरे मन में दीर्घकालपर्यन्त स्थिर रहे; जब तक कि इससे दुर्वासना-रूपी दुर्गन्धि सदा के लिये दूर न हो जाय ॥ १९ ॥

स स इति विचित्रः, अपूर्वोऽलौकिकः, आमोदो—हर्षो यस्याः त्वच्चिन्तायाः, सैव स्पृहणीयत्वात् कुसुमवासना, दृढतां—प्ररूढत्वं ममैतु मनसि, यावद्रागादिदुर्वासना नश्यतु ॥ १९ ॥

क्व नु रागादिषु रागः
क्व च हरचरणाम्बुजेषु रागित्वम् ।
इत्थं विरोधरसिकं
बोधय हितममर मे हृदयम् ॥ २० ॥

हे मृत्युञ्जय ! यह सत्य है कि कहाँ तो विषय-वासना सम्बन्धी रागादिकों में मिथ्या प्रीति और कहाँ भगवान् हर के चरण-कमलों में भक्ति है इस प्रकार हित और अहित इन दोनों विरोधी बातों में लगा हुआ मेरा रसिक मानस भ्रम में पड़ा है, अतः आप इसे समझाइये ॥ २० ॥

हे अमर ! मम हृदयं विरोधरसिकं—समावेशे त्वत्परं व्युत्थाने तु विषयोन्मुखम् । हितं बोधय—विवेकितं कुरु, येन व्युत्थाने रागादिरसिकतां त्यक्त्वा त्वदनुरक्तमेव आस्ते ॥ २० ॥

विचरन्योगदशास्वपि
विषयव्यावृत्तिवर्तमानोऽपि ।
त्वच्चिन्तामदिरामद-
तरलीकृतहृदय एव स्याम् ॥ २१ ॥

हे योगेश्वर ! योगविषयक भूमिकाओं में विचरण करता हुआ भी शब्दादि विषयों से अपने चित्त को दूर करने में निरन्तर तत्पर रहूँ तथा भी आप के स्वरूप सम्बन्धी विचार मदिरा के मद से चञ्चल हृदयवाला ही मैं बना रहूँ । २१ ॥

योगदशाः—भूमिकाज्ञानानि । विषयेभ्यो व्यावृत्तयः इन्द्रियाणां प्रत्याहाराः, तत्र वर्तमानः । त्वच्चिन्ता—त्वत्स्मृतिरेव मदिरामदः, तेन तरलीकृतं—त्याजितं मितभूमिकाप्ररूढि क्षीवस्येव घूर्णमानं निजचमत्कार-व्यतिरेकेण कुत्रचिदपि भूमिकाज्ञानादावरोहत् हृदयं यस्य तादृगेव स्याम् । अपिशब्देन प्रसङ्गापतितत्वेन अनादरणीयतामाह ॥ २१ ॥

वाचि मनोमतिषु तथा
शरीरचेष्टासु करणरचितासु ।
सर्वत्र सर्वदा मे
पुरःसरो भवतु भक्तिरसः ॥ २२ ॥

हे भगवन् ! मन, वाणी और बुद्धिवृत्तिपूर्वक इन्द्रियसमूह द्वारा विरचित शारीरिक व्यापारों में एवं जाग्रदादि सभी अवस्थाओं में निर्मल भक्तिरस-समावेश चमत्कार सदा मेरा सहयोगी बना रहे ॥ २२ ॥

मनोमतयः—कल्पनाप्रधाना धियः । करणरचितासु बुद्धिकर्मेन्द्रिय-कार्यासु । दर्शनश्रवणादिपूर्वकत्वात्सर्वप्रवृत्तीनाम् । सर्वत्र—सर्वावस्थासु । पुरःसरः—आदावेव स्फुरन् । भक्तिरसः—समावेशचमत्कारः ॥ २२ ॥

शिव-शिव-शिवेति नामनि
तव निरवधि नाथ जप्यमानेऽस्मिन् ।
आस्वादयन् भवेयं
कमपि महारसमपुनरुक्तम् ॥ २३ ॥

हे नाथ ! 'शिव शिव शिव' इस प्रकार अतीव प्रिय आप के स्वानुभव सिद्ध अनुत्तर नाम का निरन्तर स्मरण करता हुआ मैं उस अलौकिक नित्य नूतन स्फुरण स्वभाव वाले महारस का आस्वादन करता हुआ बना रहूँ ॥ २३ ॥

जप्यमाने प्रकृष्टमन्त्रमयतया परामृश्यमाने । अस्मिन्निति—स्वानुभवैकसाक्षिके अनुत्तरे । भूयो नामग्रहण समावेशवैवश्यं ध्वनति । कमपीति—अलोकिकम्, अत एव महच्छब्दः । अपुनरुक्तं—नवनवानन्दप्रसरम् ॥ २३ ॥

स्फुरदनन्तचिदात्मकविष्टपे
परिनिपीतसमस्तजडाध्वनि ।
अगणितापरचिन्मयगण्डिके
प्रविचरेयमहं भवतोऽर्चिता ॥ २४ ॥

हे परमेश्वर ! जिससे समस्त वेद्यरूपी प्रमेय अध्व की निवृत्ति हो जाती है और जिस में कुछ भी नहीं समझी जाती दूसरी अपने चिद्रूप से भिन्न चिन्मय नगरी है । इस प्रकार प्रकाशमान अनन्त चिदात्मक भुवन में मैं सदैव आपकी पूजा करने में तत्पर रहूँ ॥ २४ ॥

स्फुरन्—अनन्तमपरिच्छिन्नं यच्चिदात्मकं विष्टपं भुवनं विश्वविश्रान्तिस्थान तत्र । कीदृशे ? परितः—समन्तात् निपीतः समस्तो निःशेषो जडो वेद्यरूपोऽध्वा—तत्त्वादि प्रसरो येन । तथा न गणिता अपरा चिन्मयी गण्डिका—पुरी यत्र; —शिवात्मकचिद्रूपव्यतिरेकेण अन्यस्याभावात् । अनेन —भिन्नशिववादनिरास उक्तः । तत्र प्रकर्षेण विचरेयं समावेशेन प्रसरेयं । कीदृक् ? भवतः प्रभोरर्चिता—अद्वयरूपत्वत्पूजनैकनिष्ठः ॥ २४ ॥

स्ववपुषि स्फुटभासिनि शाश्वते
स्थितिकृते न किमप्युपयुज्यते ।
इति मतिः सुदृढा भवतात् परं
मम भवच्चरणाब्जरजः शुचेः ॥ २५ ॥

हे परमशिव ! अत्यन्त स्फुटरूप से भासमान शाश्वत-नित्य अपनी चिदात्मस्वरूप स्थिति के लिये कुछ भी ध्यान-जपादिक का उपयोग नहीं देखा जाता है, ऐसी निर्मल बुद्धि आपके पादपद्मों की रज से विशुद्ध मुझ किंकर को प्राप्त हो और वह सुदृढ बुद्धि बनी रहे ॥ २५ ॥

स्वस्मिन् – अनपायिनि, वपुषि—चिदात्मस्वरूपे । स्फुटभासिनि—प्रकाशघने । शाश्वते—नित्ये । स्थितिं कर्तुं न किमपि—ध्यानजपादिकम् उपयुज्यते—उक्तरूपत्वादेव । एतादृशी मम भवच्चरणाम्बुजरजःशुचेः—त्वच्छक्तिकमलप्रसरपरिशीलनेन शुद्धस्य । सुदृढा मतिः—निश्चलनिश्चयरूपा धीः, परम्—अतिशयेन भवतात्—नित्योदितसमावेशैकघनः स्यामिति यावत् ॥ २५ ॥

किमपि नाथ कदाचन चेतसि
स्फुरति तद्भवदंघ्रितलस्पृशाम् ।
गलति यत्र समस्तमिदं सुधा-
सरसि विश्वमिदं दिश मे सदा ॥ २६ ॥

हे दिनंकिकर शिव ! आप के चरण-कमलों के स्पर्श से चित्त में कभी समावेश-दशा में उस विलक्षण स्वरूप का स्फुरण होता है, जिसमें यह सारा मायीयभेद प्रथारूप विश्वप्रपञ्च चित्स्वरूपरूपी सुधा सरोवर में गल जाता है; अतः वही स्थिति मुझे सदैव दीजिये ॥ २६ ॥

इति श्रीसर्वदर्शनाचार्यकृष्णानन्दसागरकृत-हिन्दीव्याख्या-स्तवरञ्जनी ।

हे नाथ ! भवदङ्घ्रितलस्पृशां—त्वच्छक्तिस्पर्शशालिनां, कदाचिद-वसरे, तत्किमपि—असामान्यं वस्तु चेतसि स्फुरति, यत्र समस्तमिदं विश्वं सुधासरसि—परमानन्दसागरे गलति—तन्मयीभवति । तत्तथाविधमिदं वस्तु मह्यं सदा दिश-प्रयच्छ, यथा नित्यसमावेशानन्दघन एव भवामि—इति शिवम् ॥ २६ ॥

इति श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितस्तोत्रावलौ स्वबलनिदेशनाख्ये
पञ्चमे स्तोत्रे श्रीक्षेमराजाचार्यविरचिता विवृतिः ॥ ५ ॥

अथ

षष्ठं स्तोत्रम्

क्षणमात्रमपीशान वियुक्तस्य त्वया मम ।
निबिडं तप्यमानस्य सदा भूया दृशः पदम् ॥ १ ॥

हे ईशान ! आप से अलग रहना मेरे लिये एक क्षण भी दुःखदायी हो जाता है । आप के चित्स्वरूप का चिन्तन सदैव मैं करता रहूँ अर्थात् आपके चिद्रूप के दर्शन आनन्द से वञ्चित मैं क्षणभर भी न रहूँ ॥ १ ॥

व्युत्थानरूपे क्षणमात्रवियोगे, गाढानुरागवैवश्यात् निबिडम्—अत्यर्थं, तप्यमानस्य—स्वयमेव सन्तापमनुभवतो न तु विषयविवशस्य । मम सदा दृशः—ज्ञानस्य, पदं भूयाः—परिस्फुरेत्यर्थः ॥ १ ॥

वियोगसारे संसारे प्रियेण प्रभुणा त्वया ।
अवियुक्तः सदैव स्यां जगतापि वियोजितः ॥ २ ॥

हे प्रभो ! विश्व से पृथक्, हो कर भी वियोग ही सार है जिसका ऐसे इस संसार में अत्यन्त प्रिय आप परमात्मा से कभी-भी मैं अलग न रहूँ; सदा आप के चिद्रूप में मेरी स्थिति बनी रहे ॥ २ ॥

अवियुक्तः—समाविष्टः । जगता—क्षित्यादिशिवान्तेन विश्वेनापि वियोजितः—विश्लेषितः । समावेशे च विश्वं प्रत्यस्तमयो वस्तुतो भवत्येव ॥ २ ॥

कायवाङ्मनसैर्यत्र यामि सर्वं त्वमेव तत् ।
इत्येष परमार्थोऽपि परिपूर्णोऽस्तु मे सदा ॥ ३ ॥

हे भगवन् ! मन, वाणी और शरीर से जिस किसी भी स्थिति में विचरण करता रहूँ। वह रूप आपका ही एकमात्र स्वरूप है। जबकि यह पारमार्थिक रूप में सत्य है तो भी मेरे लिये परिपूर्ण-समावेश काल में प्रत्यक्षतया सिद्ध हो ॥ ३ ॥

यत्रेति - विषये। त्वमेव तदिति—चिदेकसारत्वात्। इत्येष परमार्थं इति—

"यत्र यत्र—............. ।"

इत्युपक्रम्य

............"सर्वं शिवमयं यतः" ॥ स्व० तं० ४ प०, श्लो० ३१३ ॥

इत्याम्नातत्वात्। परिपूर्ण इति— समावेशेन साक्षात्कृतः। ३ ॥

निर्विकल्पो महानन्दपूर्णो यद्वद्भवांस्तथा ।
भवत्स्तुतिकरी भूयादनुरूपैव वाङ्मम ॥ ४ ॥

हे प्रभो ! जैसे आप निर्विकल्प—शुद्धचिद्रूप महानन्द से पूर्ण हैं। वैसे आप परमेश्वर के गुणगरिमा का स्तवन करनेवाली मेरी वाणी भी बन जाय ॥ ४ ॥

निर्विकल्पः—शुद्धचिद्रूपः। तथेति—निर्विकल्पा महानन्दमयी च। अत एव स्तुत्यसमुचितत्वात् अनुरूपा ॥ ४ ॥

भवदावेशतः पश्यन् भावं भावं भवन्मयम् ।
विचरेयं निराकाङ्क्षः प्रहर्षपरिपूरितः ॥ ५ ॥

हे परमेश्वर ! आप के स्वरूप में समाहित हुआ मैं प्रत्येक वस्तु को आप के रूप में ही देखता रहूँ एवं सांसारिक इच्छाओं से रहित अत्यन्त हर्ष से पूर्ण हो कर विचरण करता रहूँ ॥ ५ ॥

भावं भावमिति वीप्सया विश्वाक्षेपः। निराकाङ्क्ष इत्यत्र विशेषण-द्वारको हेतुः प्रहर्षेत्यादिः,—प्रकृष्टेन महानन्दात्मना हर्षेण परिपूरितत्वादेव हि निराकांक्षता भवति ॥ ५ ॥

भगवन्भवतः पूर्णं पश्येमयखिलं जगत् ।
तावतैवास्मि सन्तुष्टस्ततो न परिखिद्यसे ॥ ६ ॥

हे परमेश्वर ! समस्त विश्वप्रपञ्च को शिवस्वरूप से अभिन्न ही देखता रहूँ और इतने मात्र से ही मैं परम सन्तोष का अनुभव करता हूँ। इसलिये आप मुझ से व्याकुल मत होइये अर्थात् अणिमादि प्रार्थनाओं से आपको कष्ट नहीं दूँगा ॥ ६ ॥

भवतः—चिन्मयस्य सम्बन्धितया

"प्रदेशोऽपि ब्रह्मणः सार्वरूप्यमनतिक्रान्तश्चाविकल्पश्च"।

इति स्थित्या अखिलं जगत् पूर्णं पश्येयम्। भवता पूर्णमिति पाठे तु स्पष्टोऽर्थः। सन्तुष्टः परमानन्दमयीं प्रीतिमितः। अतो हेतोर्न परिखिद्यसे;—हे भगवन्—चिद्रूपस्वात्मन् ! अणिमादिप्रार्थनाभिः न व्याकुलीक्रियसे इत्यर्थः ॥ ६ ॥

विलीयमानास्त्वय्येव व्योम्नि मेघलवा इव ।
भावा विभान्तु मे शश्वत्क्रमनैर्मल्यगामिनः ॥ ७ ॥

हे विश्वात्मन् ! आकाश में विलीन होनेवाले मेघखण्डों के सदृश विश्व की ये सभी चराचरात्मक वस्तुएँ सदा क्रम से शुद्धचिद्रूपता को प्राप्त हो कर आपके विराट् माहेश्वर स्वरूप में विलीन होती हुई मुझे प्रतीत हो रही हैं ॥ ७ ॥

यत एवोल्लसितास्तत्र त्वय्येव क्रमात्क्रमं संस्कारशेषतयापि विगलन्ते। यथा व्योम्नि मेघलवाः। ते हि तत एव प्रसृतास्तत्रैव विलीयन्ते। शश्वत्—सदा। क्रमेण नैर्मल्यं—शुद्धचिद्रूपत्वं गच्छन्ति तच्छीलाः, इत्यनेन चिदात्मतैवैषां तात्त्विकं रूपमिति ध्वनति ॥ ७ ॥

स्वप्रभाप्रसरध्वस्तापर्यन्तध्वान्तसन्ततिः ।
सन्ततं भातु मे कोऽपि भवमध्याद्भवन्मणिः ॥ ८ ॥

हे प्रभो ! जिसने आप की ज्ञानप्रभा के फैलाव से अथाह—घनीभूत अज्ञान अन्धकार विनष्ट किया है। ऐसी कोई अद्वितीय परमशिवरूपी चिन्तामणि संसार में मुझे सदैव भासित होती रहे ॥ ८ ॥

भवमध्यात्—विश्वस्य मध्यतः। कोपीति—शुद्धचिद्रूपः। भवानेव मणिः—सर्वाभिलाषपूरकत्वात् मम सन्ततम्—अव्युत्थानं कृत्वा, भातु—समावेशेन स्फुरतु। स्वप्रभाप्रसरेण—निजरश्मिपरिस्पन्देन ध्वस्ता अपर्यन्ता ध्वान्तसन्ततिः—अख्यातिप्रतीतिर्येन ॥ ८ ॥

कां भूमिकां नाधिशेषे किं तत्स्याद्यन्न ते वपुः ।
श्रान्तस्तेनाप्रयासेन सर्वतस्त्वामवाप्नुयाम् ॥ ९ ॥

हे सर्वान्तर्यामिन् ! आप किसी भी अवस्था में रहते हों और वह कौन-सी वस्तु है जिसमें आपका चित्स्वरूप विद्यमान नहीं रहता है। इससे श्रान्त—अप्रत्यभिज्ञातस्वरूप वाला मैं चिदात्मस्वरूप अज्ञान के कारण संसार में दीर्घकाल से खिन्न-सा हूँ। अत एव मैं शिवस्वरूप का ध्यान-पूजादि आयास के बिना ही सर्वत्र दर्शन करता रहूँ ।९॥

श्रान्त इति—अप्रत्यभिज्ञातस्वरूपत्वाच्चिरं ससारे खिन्नः। त्वां—चिद्रूपम् अप्रयासेन—ध्यानपूजाद्ययासं विना, सर्वतः—यतः कुतश्चित् अवाप्नुयां—समावेशेन स्वीकुर्याम् । यतः कां भूमिकाम्—अवस्थिर्ति नाधिशेषे—नाधितिष्ठसि। तद्बाह्यमान्तरं वा वस्तु किं यत्तव वपुः - स्वरूपं न स्यात् ॥ ९ ॥

भवदङ्गपरिष्वङ्गसम्भोगः स्वेच्छयैव मे ।
घटतामियति प्राप्ते किं नाथ न जितं मया ॥ १० ॥

हे दिनकिंकर ! आप परमशिव के संस्पर्श मात्र से ही मुझे आत्मस्वरूप का सुख स्वेच्छया ही प्राप्त हो जाता है। इतना मिल जाने पर क्या मैंने सब कुछ नहीं जिता है ? ॥ १० ॥

अङ्गपरिष्वङ्गः- परसमावेशस्पर्शः। स्वेच्छया—न तु कदाचित्कत्वेन। किं न जितं सर्वोत्कृष्टेन मयैव स्थितमित्यर्थः ॥ १० ॥

प्रकटीभव नान्याभिः प्रार्थनाभिः कदर्थनाः ।
कुर्मस्ते नाथ ताम्यन्तस्त्वामेव मृगयामहे ॥ ११ ॥

हे करुणासागर शिव ! मेरे हृदय-कमल में प्रकट हो जाइये और मुझे स्वरूप साक्षात्कार के दर्शन से आनन्दित कर दीजिये। अन्य अणिमासम्बन्धी प्रार्थनाओं से आपको व्याकुल नहीं करेंगे, जबकि आपके वियोगजनित दुःख से दुःखी हो कर हम आपको ही प्राप्त करना चाहते हैं ॥ ११ ॥

इति श्रीसर्वदर्शनाचार्यश्रीकृष्णानन्दसागरकृत-हिन्दीव्याख्या-स्तवरञ्जनी ।

अन्याभिरर्थनाभिः—याच्ञाभिः, कदर्थनाः—व्याकुलताः तव चिद्रूपस्य स्वात्मनः न कुर्मः । यतस्ताम्यन्तः—गाढानुरागविवशाः, त्वामेव चिद्रूपं न तु अन्यं कंचित् मृगयामहे—अन्विष्यामः, अतः प्रकटीभव—प्रकाशस्वेति शिवम् ॥ ११ ॥

इति श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितस्तोत्रावल्यामध्वविस्फुरणाख्ये षष्ठे स्तोत्रे श्रीक्षेमराजाचार्यविरचिता विवृतिः ॥ ६ ॥

अथ

सप्तमं स्तोत्रम्

त्वय्यानन्दसरस्वति समरसतामेत्य नाथ मम चेतः ।
परिहरतु सकृदियन्तं भेदाधीनं महानर्थम् ॥ १ ॥

हे दिर्नकिकर शिव ! अपने से अभिन्न आनन्दसागर में समरसता, तन्मयता को प्राप्त हो कर मेरे चञ्चलचित्त मायीय भेदप्रथा पर आधारित होनेवाली अज्ञानरूपी असीमित अनर्थ उत्पन्न करनेवाली विपत्ति का सर्वथा निवारण कर दीजिये; जिससे वह पुनः मुझ पर न आ सके ॥ १ ॥

आनन्दसरस्वति—हर्षसमुद्रे, समरसतां—समावेशैकघ्यम् सकृत्—एकवारं परिहरतु—यथा न पुनर्भवतीत्यर्थः । इयन्तम्—अपर्यन्तम् ॥ १ ॥

एतन्मम न त्विदमिति रागद्वेषादिनिगडदृढमूले ।
नाथ भवन्मयतैक्यप्रत्ययपरशुः पतत्वन्तः ॥ २ ॥

हे नाथ ! यह सुख के हेतुभूत वस्तु मुझे सदैव आपके अनुग्रह से प्राप्त होती रहे और दुःख के हेतुभूत वस्तु कभी-भी प्राप्त न हो । इस प्रकार भेदावग्रहात्मक रागद्वेषरूपी शृंङ्खला-बन्धन की अत्यन्त दृढमूल को बीच में आप विशुद्ध चिद्रूप से अभिन्नता का एक निरुद्धरूपी परशु लगते ही सारे द्वन्द्व तहस-नहस हो जायें ॥ २ ॥

एतत्—सुखं तद्धेतुरूपं मम अस्तु, इदं तु—दुःखं तद्धेतुरूपं मम मा भूत्,—इत्येवं भेदावग्रहरूपं रागद्वेषाद्यात्मनो निगडस्य—बन्धस्य दृढे—कठिने मूले अन्तर्—मध्ये भवन्मयतैक्यप्रत्ययः—चिदैक्यप्रतीतिरेव परशुः—कुठारः पततु ॥ २ ॥

गलतु विकल्पकलङ्कावली
समुल्लसतु हृदि निरर्गलता ।
भगवन्नानन्दरस-
प्लुतास्तु मे चिन्मयी मूर्तिः ॥ ३ ॥

हे भगवन् ! मेरे चित्त सागर से उठनेवाली संकल्प-विकल्प रूपी भेद कलङ्क की तरंगे विगलित हो जायें और हृदय में निःशङ्कता का स्थिर भाव सदैव विकसित हो एवं मेरी चिन्मयी मूर्त्ति-प्रमातृता समावेश आनन्दरस से भर जाय ॥ ३ ॥

विकल्पानां भेदप्राधान्यात् कलङ्कता । निरर्गलता - निःशङ्कता स्वातन्त्र्यम् । मम चिन्मयी मूर्तिः—प्रमातृता, आनन्दरसप्लुता - समावेशानन्दोच्छलिता अस्तु ॥ ३ ॥

रागादिमयभवाण्डकलुठितं
त्वद्भक्तिभावनाम्बिका तैस्तैः ।
आप्याययतु रसैर्मां
प्रवृद्धपक्षो यथा भवामि खगः ॥ ४ ॥

हे कल्याणकर शिव ! रागद्वेषादि द्वन्द्वों से युक्त इस अखिल ब्रह्माण्ड में लौटते हुए आप परमात्मा की भक्तिभावनारूपी अम्बिका उन-उन चिदानन्दरस कणों से मुझे सदैव पुष्ट करती रहे । जैसे मादा पक्षी अण्डे पर लोटता हुआ भी अपने शावकों को पुष्ट करता है । जिससे बढ़े हुए परों वाले शिशु-पक्षी में उड़ान भरने की शक्ति आ जाती है और इसी प्रकार मैं भी सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र हो कर चिद्गगन में विहार करता रहूँ ॥ ४ ॥

रागादिमये भवाण्डके—संसारगोलके, लुठितम्—अधोधः पतन्तं मां, त्वद्भक्तिभावनैव अम्बिका—माता, तैस्तैः—परमानन्दसारैः रसैराप्याययतु—तर्पयतु । यथा प्रवृद्धपक्षः—प्रकर्षेणासादितव्याप्तिज्ञानक्रियामयस्वात्मपक्षः । खगः—निर्मलचिद्गगनगतिर्भवामि । अण्डलुठितश्च पक्षी मात्रा रसैराप्यायितः, प्रवृद्धपक्षःखे उड्डीनो गच्छतीति श्लेषोपमाध्वनिः ॥ ४ ॥

त्वच्चरणभावनामृतरससारास्वादनैपुणं लभताम् ।
चित्तमिदं निःशेषितविषयविषासङ्गवासनावधि मे ॥ ५ ॥

हे परमात्मन् ! शब्दादि विषय विष तुल्य हैं इसलिये चित्त से उनकी प्राप्ति की प्रबल इच्छा विनष्ट हो चुकी है इस प्रकार मेरा यह निर्मल चित्त आप परमात्मा के पादारविंद की भक्तिभावनारूपी चिदानन्द रसामृत के सार का आस्वादन करने में निपुणता को प्राप्त करता रहे ॥ ५ ॥

त्वच्चरणभावना--त्वद्भक्तिचिन्ता, सैव अमृतरससारः--उत्कृष्टः आनन्दप्रसरः, तत्र आस्वादे–चमत्कारे, नैपुणं--वैदग्ध्यं ममेदं चित्तं लभताम् । कीदृशम् ? निःशेषितः—समाप्तो विषयविषासंगवासनानां—वेद्यहालाहलव्यसनसंस्काराणामवधिर्मर्यादा येन ।। ५ ।।

त्वद्भक्तितपनदीधितिसंस्पर्शवशान्ममैष दूरतरम् ।
चेतोमणिर्विमुञ्चतु रागादिक-तप्तवह्निकणान् ।। ६ ।।

हे परम शिव ! यह मेरा चित्तरूपी सूर्यकान्तमणि आप परमात्मा की भक्ति-श्रद्धारूपी देदीप्यमान सूर्य की रश्मियों के संस्पर्श मात्र से ही रागद्वेषादि द्वन्द्वसमूह विषयवासना के संस्काररूपी अत्यन्त संतप्त वह्नि कणों-स्फुलिङ्गों को सदा के लिये मुझ से दूर कर दीजिये ।। ६ ।।

मम चेतिमणिरौचित्याच्चित्तसूर्यकान्तरत्नं, त्वद्भक्तितपनदीधिति-संस्पर्शवशात्– भवत्समावेशसूर्यकरासङ्गात्, रागादिकानेव तप्तवह्नि-कणान् मृष्टुमशक्यान् स्फुलिंगान्, दूरतरम्– अत्यर्थं, मुञ्चतु—जहातु ।। ६ ।।

तस्मिन्पदे भवन्तं सततमुपश्लोकयेयमत्युच्चैः ।
हरिहर्यश्वविरिञ्चा अपि यत्र बहिः प्रतीक्षन्ते ।। ७ ।।

हे देवाधिदेव ! जिस दिव्यातिदिव्य कैलासधाम पर ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्रादि देवता भी बाहर खड़े होकर प्रतीक्षा करते रहते हैं । मैं उस परमश्रेष्ठ दिव्यधाम पर पहुँच कर सदैव आपका स्तवन करता रहूँ ।। ७ ।।

तस्मिन्नत्युच्चैः पदे– परशक्तिमार्गे त्वामुपश्लोकयेयं– श्लोकैः स्तवेयं सम्यक् परामृशेयम् । हर्यश्वः—इन्द्रः । बहिः प्रतीक्षन्ते—लिप्सवोऽपि वार्तानभिज्ञा इति यावत् ।। ७ ।।

भक्तिमदजनितविभ्रमवशेन पश्येयमविकलं करणैः ।
शिवमयमखिलं लोकं क्रियाश्च पूजामयी सकलाः ।। ८ ।।

हे परमात्मन् ! मैं आपकी भक्ति की महिमा से अर्थात् आप चिदात्मा के स्वरूप समावेशजन्य हर्ष से लोकोत्तर चिद्विलास के कारण अपनी चक्षु आदि इन्द्रियों से अविकल—पूर्णरूप में समग्र विश्व को परमानन्दमय एवं मन, वाणी और शरीर से होनेवाले सारे कार्यों को आप की पूजा के रूप में अर्थात् चित्स्वरूप उल्लास के रूप में सदैव देखता रहूँ ।। ८ ।।

भक्तिमदेन—समावेशप्रहर्षेण जनितो यो विभ्रमो—लोकोत्तरो विलास-स्तद्वशेन । करणैः—चक्षुरादिभिः । अविकलं—पूर्णं कृत्वा, करणप्रसरात्मनि व्युत्थानेऽपि श्रीभैरवीयमुद्राप्रवेशयुक्त्या समाविष्ट एव भूत्वा अखिलं लोकं—विश्वं लोकं शिवमयम्, क्रियाश्च—वाङ्मनःकायव्यापृतीः सकलाः पूजामयीः—चिन्मयस्वरूपोल्लासरूपाः पश्येयम् ॥ ८ ॥

मामकमनोगृहीतत्वद्भक्तिकुलाङ्गनाणिमादिसुतान् ।
सूत्वा सुबद्धमूला ममेति बुद्धिं दृढीकुरुताम् ॥ ९ ॥

हे देवाधिदेव ! मेरे मानस द्वारा प्राणेशत्व के रूप से स्वीकृत आप परमशिव की भक्तिरूपी कुलाङ्गना-नारी अभेदसार अणिमादि पुत्रों का प्रसव कर अर्थात् अन्तः-स्थित भावराशि को बाहर की ओर अभिव्यक्त कर, यह सारा विश्व मेरा ही स्वरूप है, किसी अन्य का नहीं । इस प्रकार की आप के विषय में मेरी प्रौढ बुद्धि हो जाय, जिससे मेरा चित्त आपके चिद्रूप से पृथक् न रहे ॥ ९ ॥

इति श्रीसर्वदर्शनाचार्यश्रीकृष्णानन्दसागरकृत-हिन्दीव्याख्या-स्तवरञ्जनी ।

मामकेन मनसा गृहीता—प्राणेशत्वेन स्वीकृता येयं भक्तिरति-स्पृहणीयत्वात् सर्वजनागोचरत्वाच्च कुलाङ्गना—पत्नी, अथ च आगमभाषया श्रीकुलेश्वरीरूपा । सा अणिमादीनेव सुतान् सूत्वा—अन्तः—स्थितानेवा-भिव्यक्तिं नीत्वा, महाव्याप्त्या सुस्फुटतया परामृश्य, कुष्ठुबद्धमूला—प्ररूढा सति, 'मम इयद्विश्वं न तु अन्यस्य'—इति बुद्धिं दृढीकुरुतां—प्ररूढिं नयतु । अत्र च अभेदसारा अणिमादयोऽभिप्रेताः । तथा हि—चित्पद एव सर्वान्तर्भाव-क्षमत्वाद् अणिमा, व्यापकत्वान्महिमा, भेदमयगौरवाभावात् लघिमा, विश्रान्तिस्थानत्वात्प्राप्तिः, विश्ववैचित्र्यग्रहणात् प्रकाम्यम्, अखण्डितत्वादी-शित्वं सर्वं सहत्वाद्यत्र कामावसायत्वं च । सत्यतः परिपूर्णतया विद्यते, अन्यत्र तु तत्प्रसादादतिपरिमितं प्राप्तमिति कृत्वा पूर्णमेवात्र तदभिप्रेत न त्वन्यत् पूर्णत्वेन नैराकाङ्क्षात्,

'आसतां तावदन्यानि दैन्यानि···।' शि० स्तो०, स्तो० ३ श्लो० १६ ।।

इत्याद्युक्तेर्व्याघातप्रसंगाच्च । एवमुत्तरत्रापि स्मर्तव्यमिति शिवम् ॥ ९ ॥

इति श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितस्तोत्रावलौ विधुरविजयनामके
सप्तमे स्तोत्रे श्रीक्षेमराजाचार्यविरचिता विवृतिः ॥ ७ ॥

अथ

अष्टमं स्तोत्रम्

य: प्रसादलव ईश्वरस्थितो
या च भक्तिरिव मामुपेयुषी ।
तौ परस्परसमन्वितौ कदा
तादृशे वपुषि रूढिमेष्यतः ॥ १ ॥

हे देवाधिदेव ! आप परमेश्वर के चरण-कमलों समीप रहा हुआ जो थोड़ा-सा भी मायाकालुष्य रहित चित्तगत नैर्मल्यरूप प्रसाद-अनुग्रह है और थोड़ा-सी आपके चरण कमलों की भक्ति मुझ किंकर को प्राप्त हुई है। वे दोनों भक्ति और प्रसाद परस्पर सम्मिलित हो कर परमानन्दघन चिदैक्य स्वरूप में किस समय स्वात्मरूप विश्रान्तिभाव को प्राप्त करेंगे ? आशय यह है कि ऐसा पावन अवसर मेरा कब आयेगा ? जब मैं आपकी निर्मल भक्ति करता रहूँगा और मुझ पर आपकी अनुकम्पा सदैव बनी रहेगी ॥ १ ॥

मायाकालुष्योपशान्त्या चितो नैर्मल्यं प्रसादः। तस्य लवः—अल्पता। पूर्णतायां तु देहापगमाच्छिवतैव । ईश्वर इति सप्तमी अनन्यभावे,—ईश्वरे एव स्थित इत्यर्थः। स एव हि चिद्रूपः तथा स्वयमेव प्रसीदति भक्तिप्रसादात्। ईश्वरस्य रूपोपमाव्यग्रत्वम्। इव शब्दो भक्तेः परिमितितामाह;—काष्ठाप्राप्ता ह्यसौ मोक्षास्वादमय्येव। उपेयुषी—उपगतवती । तौ भक्तिप्रसादौ परस्पर सम्यगन्वितौ तरुणाविव प्रेमनिर्भरतया स्वानुरूप्येण सम्बद्धौ। तादृशे वपुषि इति—परमानन्दघनतैकमये पूर्णे स्वरूपे। रूढि—विश्रान्तिम् ॥ १ ॥

त्वत्प्रभुत्वपरिचर्वणजन्मा
कोऽप्युदेतु परितोषरसोऽन्तः ।
सर्वकालमिह मे परमस्तु
ज्ञानयोगमहिमादि विदूरे ॥ २ ॥

हे विश्वनाथ ! इस संसार में आप के प्रभुत्व के आस्वादन से उत्पन्न विलक्षण तृप्ति रस व्युत्थानकाल में भी मेरे हृदय में सदैव उल्लासित हो कर प्रवाहित होता रहे। ज्ञान और योग अर्थात् स्वात्मस्वरूपरूपी विश्वोत्तीर्ण प्रतिपत्ति और उस चित्तनिरोधकरूपी योग भूमिका की संप्राप्तिरूप उपलब्धि की महिमा—प्रकर्षरूपता आदि सिद्धि का अभ्युदयरूप फल तो दूर ही रहे ॥ २ ॥

त्वत्प्रभुत्वस्य—त्वत्स्वामित्वस्य

'गर्जामि बत................।' स्तो० ३, श्लो० ११ ॥

इति प्रागुक्तश्लोकयुक्त्या यत् परिचर्वणं, ततो जन्म यस्य मम कोऽपि—अलौकिकः, परितोषरसः—आनन्दप्रसरः, इहेति—जगति। सर्वकालं—व्युत्थानावसरेऽपि। परं—केवलम्। उदेतु—उल्लसतु। ज्ञानं—विश्वमय-स्वात्मप्रतिपत्तिः। योगः—तत्तद्भूमिकालाभः। तयोर्महिमा—प्रकर्षः। आदिपदात्तत्तत्सिद्ध्युदयरूपः फलम् ॥ २ ॥

लोकवद्भवतु मे विषयेषु
स्फीत एव भगवन्परितर्षः।
केवलं तव शरीरतयैतान्
लोकयेयमहमस्तविकल्पः ॥ ३ ॥

हे भगवन् ! सामान्य प्राणियों के सदृश मुझ में भी शब्दादि विषयों के प्रति अत्यधिक लोलुपता बनी रहें। किन्तु अन्तर इतना रही कि मैं विगलित मायीयभेद प्रथारूप विकल्पज्ञान वाला हो कर उन विषयों को चिदात्मरूप में ही देखूँ ॥ ३ ॥

महार्थमुद्रामुद्रितस्येयमुक्तिः। हे भगवन् मम लोकस्येव विषयेषु—रूपादिषु, स्फीतः—बहल एव परितर्षः—स्पृहयालुता अस्तु; किन्तु एतान्—विषयान् अहम् अस्तविकल्पः—गलितभेदप्रतिपत्तिः सन्, तव—चिदात्मनः शरीरतया—अहन्तासारत्वेन, लोकयेयं—पश्येयम् ॥ ३ ॥

देहभूमिषु तथा मनसि त्वं
प्राणवर्त्मनि च भेदमुपेते।
संविदः पथिषु तेषु च तेन
स्वात्मना मम भव स्फुटरूपः ॥ ४ ॥

हे प्रभवनशील शिव ! शरीरसम्बन्धी जन्म-जरा-मृत्यु आदि अवस्थाओं में एवं संकल्प-विकल्परूप मन में मायीयभेदप्रथा को प्राप्त हुए सुख-दुःखादि संस्पर्शमय प्राणमार्ग में तथा उन ज्ञानमार्गों में अर्थात् समस्त बाह्यनील-पीतादिरूप ज्ञानमार्गों में आप अपना आत्मस्वरूप मेरे लिये अनावृत्त कर स्फुटतया प्रकाशित कीजिये ॥ ४ ॥

देहभूमिषु—जरामरणाद्यवस्थासु, मनसि—कल्पनासारे, प्राणवर्त्मनि—सुखदुःखादिस्पर्शमये, संविदः पथिषु—नीलादिज्ञानेषु, तेषु इति—विचित्रेषु, भेदमुपेते इति—नपुंसकशेषः, सर्वस्मिन्नस्मिन्नभिहिते प्रकारे भेदमये सतीति यावत्। तेनेति—स्वात्मनि चमत्कृतेन चिद्घनेन, स्वात्मना—स्वरूपेण, मम स्फुटरूपः—स्वप्राधान्येन स्फुरन् भव ॥ ४ ॥

निजनिजेषु पदेषु पतन्त्विमाः
करणवृत्तय उल्लसिता मम।
क्षणमपीश मनागपि मैव भूत्
त्वदविभेदरसक्षतिसाहसम् ॥ ५ ॥

हे ईश ! मेरी ये सारी इन्द्रियों की वृत्तियाँ अपने-अपने रूपादि स्वभाव में भले ही घूमती रहें। परन्तु इस आपके अखण्ड आनन्दरस से वञ्चित होकर रहने का अवसर कभी-भी प्राप्त न हो। ५ ॥

इमाः मम करणवृत्तयः—चक्षुरादिसंविद्देव्यः। उल्लसिताः—अलौकिकेन निजौजसा सोल्लासाः। स्वेषु स्वेषु रूपादिषु विषयेषु प्रसरन्तु। त्वदविभेदरसक्षतिः—त्वत्समावेशच्युतिः, सैव साहसम्—अविमृश्यकारित्वं मैव भूत। पूर्वत्र विषयेषु परितर्षः आकांक्षात्मा उक्तः, इह तु तत्र संविदां प्रसरः,—इति विशेषः ॥ ५ ॥

लघुमसृणसिताच्छशीतलं
भवदावेशवशेन भावयन्।
वपुरखिलपदार्थपद्धते-
र्व्यवहारानतिवर्तयेय तान् ॥ ६ ॥

आपके चिदात्मस्वरूप में समावेशवशात् मैं मायीय गुरुता से शून्य लघु-हलका-सा सुखप्रदायक संस्पर्श वाला होने से मसृण-कोमल, प्रकाशस्वरूप होने से श्वेत-धवल

और विश्व के प्रतिबिम्ब को धारण करनेवाले होने से स्फटिकवत् स्वच्छ एवं ससार के आध्यात्मिक आदि तापत्रय को दूर करनेवाले होने से चन्द्रवत् शीतल आपके चिदानन्दमय स्वरूप की भावना करता हुआ उन सारा प्रमातृ-प्रमेय सम्बन्धी मायीय भेदात्मक जागतिक व्यवहारों को विवेकपूर्वक परित्याग कर दूँ ॥ ६ ॥

भवदावेशवेन मायीयगुरुत्वहान्या लघु । सुखस्पर्शत्वान्मसृणं । प्रकाशघनत्वात्, सितं । अच्छं शीतलं चेति प्राग्वत् । भावयन् - सम्पादयन्, निखिलाया: पदार्थपद्धते:— मातृमेयराशे: सम्बन्धिनो व्यवहारान्—लौकिकान् परिस्पन्दान्, अतिवर्तयेय—निवर्तयेय ॥ ६ ॥

विकसतु स्ववपुर्भवदात्मकं
समुपयान्तु जगन्ति ममाङ्गताम् ।
व्रजतु सर्वमिदं द्वयवल्गितं
स्मृतिपथोपगमेऽप्यनुपाख्यताम् ॥ ७ ॥

हे प्रभो ! मेरा आत्मस्वरूप आपके स्वात्यरूप हो कर सदैव उल्लासित होता रहे। पृथिवीतत्त्व से लेकर सदाशिवतत्त्व पर्यन्त समस्त वस्तुसमूह मेरे अङ्ग हो जाय। यह सारा मायीय भेदप्रथात्मक विकास स्मृति पट पर आने पर भी उसका अविषय ही बना रहें और इससे मेरा थोड़ा-सा भी सम्बन्ध न रहे ॥ ७ ॥

स्वं—चिन्मयं भवदात्मकं वपु:—स्वरूपं विकसतु । अत एव जगन्ति—धरादिसदाशिवान्तानि मम अङ्गताम्—अभिन्नतां, सम्यक्—अपुनरुत्थानेनोपयान्तु । ततश्च सर्वं द्वयवल्गितं—भेदविजृम्भितं, स्मृतिपथोपगमेऽपि अनुपाख्यतां—स्मृतेरविषयतां व्रजतु ॥ ७ ॥

समुदियादपि तादृशतावका—
ननविलोकपरामृतसम्प्लवः ।
मम घटेत यथा भवदद्वया—
प्रथनघोरदरीपरिपूरणम् ॥ ८ ॥

हे करुणाकर शिव ! आपके मुखारविंद का दर्शनरूपी परमानन्दमयी सरिता की बाढ़ भी आ जाती है, तो इससे मेरे लिये आप परमात्मा के चिदैक्य अप्रथारूपी घोर-संसारभयप्रद खंदक अच्छी तरह भर जाय, जिससे मैं आपका शुद्ध चित्स्वरूप का अपरोक्षतया दर्शन कर सकूँ ॥ ८ ॥

भवदद्वयाप्रथनं—चिदैक्याप्रथा, सैव घोरा—दुष्पूरा संसारभयप्रदा दरी— खदा, तस्याः परिपूरणं—चिदैक्यसाक्षात्कारः, मम यथा घटेत तथा तादृशं —परमानन्दनदी प्रसरहेतुः यत्तावकमाननं

'शैवी मुखम्.................... ' वि० भै० श्लो० २० ॥

इत्यादि स्थित्या परशक्तिरूप, तेन यो विलोकः—अवलोकनमनुग्रहः, तस्य वावलोकः—स्मरणं, स एव परामृतसम्पप्लवः—परस्पर्शरसौघोऽपि समुदियात्—इति रुद्रशक्तिसमावेशप्रकर्षमाशास्ते ॥ ८ ॥

अपि कदाचन तावकसङ्गमा-
मृतकणाच्छुरणेन तनीयसा ।
सकललोकसुखेषु पराङ्मुखो
न भवितास्म्युभयच्युत एव किम् ॥ ९ ॥

हे ईश ! कदाचन अमृणबिन्दुओं के छिटकाव से सारे लौकिक सुखों से विमुख हो कर मैं क्या आध्यात्मिक सुखानुभूति से वञ्चित तो नहीं रह जाऊँगा ? ॥ ९ ॥

तावकसङ्गमः—त्वःसमावेश एव अमृतकणाच्छुरणं सुधाशीकराप्लावः । तनीयसा—प्रसरन्निर्मलस्वरूपेण । सकलेषु लौकिकेषु सुखेषु

'सर्वं दुःखं विवेकिनः' ।

इति स्थित्या हेयेष्वपि, परामृताच्छुरितत्वात् पराङ्मुखो न भवितास्मि—सम्मुख एव भविष्यामि । कीदृक् ? उभयस्मात्—द्वैताच्च्युत एव—हेयोपादेयहान्या सर्वमभेदेन पश्यन्नित्यर्थः ॥ ९ ॥

'सततमेव भवच्चरणाम्बुजा-
करचरस्य हि हंसवरस्य मे ।
उपरि मूलतलादपि चान्तरा-
दुपनमत्वज भक्तिमृणालिका ॥ १० ॥

हे जन्म-मरण से रहित अजन्मा शिव ! निरन्तर आपके पादारविंद के आकर अर्थात उत्पत्ति स्थान पराशक्तिभूमिरूपी सरोवर में विचरण करनेवाले मुझ राजहंस—आत्माको भक्तिरूपी मृणालिका ऊपर-प्रवेश और मध्य में भी अर्थात स्वरूप समावेशकाल में—स्वरूपविश्रान्ति दशा में और आत्मदर्शनकाल में सदैव प्राप्त होती रहे ॥ १० ॥

मम हंसवरस्य—भेदाभेदयोर्हानसमादानधर्मिणो व्याख्यातदृशा सततमेव भवच्चरणाम्बुजानाम् आकरः—उत्पत्तिस्थान पराशक्तिभूस्तत्र विचारिणः। भक्तिरेव मृणालिकाविसाङ्कुरः। उपनमतु—उपभोग्या अस्तु। उपरि—इत्यादि प्रवेशमध्यविश्रान्तिभूमिभ्यः सर्वाभ्य एवेत्यर्थः। हंसः—आत्मा ॥ १० ॥

उपयान्तु विभो समस्तवस्तून्यपि
चिन्ताविषयं दृशः पदं च ।
मम दर्शनचिन्तनप्रकाशा-
मृतसाराणि परं परिस्फुरन्तु ॥ ११ ॥

हे विभो ! ये परिदृश्यमान समस्त वस्तुएँ भी मेरे लिए विचार-विमर्श का विषय और श्रोत्रादि इन्द्रियों का विषय हो जाय। दर्शन एवं वेदान्त चिन्तनकाल में प्रकाश और विमर्शरूपी अर्थात् शिव और शक्तिरूपी बोध० रसायन ही सार-उत्कृष्ट स्वरूप जिनका है वे त्याज्य एवं ग्राह्य कलङ्क से रहित जडचेतनरूप समस्त वस्तुवर्ग सर्वतोभावेन प्रस्फुरित होता रहे ॥ ११ ॥

चिन्ताविषयं—विकल्प्यताम्। दृशः पदं—साक्षात्कार्यत्वम्। दर्शन-चिन्तनयोरविकल्पसविकल्पयोः प्रकाशामृतं—बोधरसायनमेव सारम्—उत्कृष्टं रूपं येषां, तानि हेयोपादेयकलङ्कशून्यानि समस्तानि वस्तूनि परं—केवलं परितः—समन्तात् स्फुरन्तु ॥ ११ ॥

परमेश्वर तेषु तेषु कृच्छ्रे-
ष्वपि नामोपनमत्स्वहं भवेयम् ।
न परं गतभीस्त्वदङ्गसङ्गा-
दुपजाताधिकसम्मदोऽपि यावत् ॥ १२ ॥

हे ईश ! मैं उन-उन क्लेशों के प्राप्त होने पर भी न केवल उनसे निर्भीक ही रहूँ। किन्तु आपके अङ्ग के संस्पर्श से अर्थात् रुद्रशक्तिसमावेश के कारण प्राप्त होने-वाले निरतिशय आत्मविश्रान्तिरूप हर्ष को भी सदैव प्राप्त करता रहूँ ॥ १२ ॥

कृच्छ्रेषु—क्लेशेषु न केवलमहं गतभीः—त्यक्तभयस्त्वदङ्गसङ्गात्—रुद्रशक्तिसमावेशात्, यावदुपजातः अधिकः—अकृष्टः सम्मदो—हर्षो यस्य तादृगपि भवेयम्। अधिकशब्दस्यायमाशयः यदुत तत्तद्दुःखेष्वप्युदितेष्वविलुप्तस्थितिस्तत्कवलनक्रमेण महावीरतया पूर्णामेव चिद्वृत्तिं प्राप्नुयाम्॥ १२॥

भवदात्मनि विश्वमुम्भितं यद्
भवतैवापि बहिः प्रकाश्यते तत्।
इति यद्दृढनिश्चयोपजुष्टं
तदिदानीं स्फुटमेव भासताम्॥ १३॥

हे परमेश्वर! यह षट्त्रिंशत्तत्त्वरूप विश्व आपके सच्चिदानन्दमय सूत्र में गूंथा हुआ है। वह आप परमात्मा से ही मायीय भेदप्रथा के रूप में बाहर से भी आभासित किया जाता है। ऐसी जो निश्चयपूर्वक प्रीति से सेवित है। वह व्युत्थानकाल में भी मेरे समक्ष स्फुटतया प्रकाशित हो॥ १३॥

इति श्रीसर्वदर्शनाचार्यश्रीकृष्णानन्दसागरकृत-हिन्दीव्याख्या-स्तवरञ्जनी।

यद्विश्वं—व्योमकलातः कालानलान्तं भवदात्मनि उम्भितं—स्वचिचत्सूत्रप्रोतं, तद्भवतैव न तु अन्येन। बहिरिति—तत्तत्प्रमातृप्रेक्षया बाह्यत्वेन प्रकाश्यते। अपिशब्दो बहिःप्रकाशनेऽपि अन्तःप्रकाशनाविरहमाह। इति यद्वस्तु वाक्यार्थरूपं दृढेन—निश्चलेन निश्चयेन उप—आत्मसमीपे, जुष्टं—प्रीत्या सेवितं, समावेशेनास्वादितं, तदिदानीमिति—व्युत्थानेऽपि, स्फुटमेव भासतां—प्रत्यक्षीभवतु इति शिवम्॥ १३॥

इति श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितस्तोत्रावली अलौकिकोद्वलनाख्येऽष्टमे
स्तोत्रे श्रीक्षेमराजाचार्यविरचिता विवृतिः॥ ८॥

अथ

नवमं स्तोत्रम्

कदा नवरसार्द्रार्द्रसम्भोगास्वादनोत्सुकम् ।
प्रवर्तेत विहायान्यन् मम त्वत्स्पर्शने मनः ।। १ ।।

हे स्वामिन् ! नूतन भक्तिरस से अत्यन्त मृदु अर्थात् स्वातिशय स्पृहणीय स्वात्मसमावेशरूपी संभोग का आस्वादन करने के लिये उत्सुक हुआ मेरा मानस अन्य सभी कल्पनाओं का जाल छोड़ कर, आपके चित्स्वरूप समावेश में कब प्रवृत्त हो जाये ? अर्थात् मेरा मन कब आपके सच्चिदानन्दस्वरूप समावेश का अनुभव प्राप्त करेगा ? ।। १ ।।

नवरसेन—नूतनभक्तिप्रसरेण आर्द्रार्द्रः—सातिशयं स्पृहणीयो यः समावेशात्मा सम्भोगः, तदास्वादे उत्सुकं—सोत्कण्ठं मम मनः, अन्यत्—कल्पनाजालं विहाय त्वत्स्पर्शने प्रवर्तेत—त्वत्समावेशमयं भवेत् ।। १ ।।

त्वदेकरक्तस्त्वत्पादपूजामात्रमहाधनः ।
कदा साक्षात्करिष्यामि भवन्तमयमुत्सुकः ।। २ ।।

हे प्रभो ! आपके चिदानन्दस्वरूप में ही केवल मेरा मानस अनुरक्त रहे; अन्य विभूतियों में आसक्त न रहे । इसलिये कि आपके पादारविंद की अर्चना ही एकमात्र महान् धन-ऐश्वर्य हो । इस प्रकार उत्कण्ठित हो कर मैं आप परमात्मा का कब साक्षात् दर्शन करूँगा ।। २ ।।

त्वय्येवैकत्र न तु विभूतिषु रक्तः । अत एव त्वत्पादपूजामात्रं—त्वन्मरीचिसपर्यैव महत्—स्फीतं धनं यस्य ।

'प्रमा समाप्तोत्सवम्'

इति स्थित्या क्षणमात्रमपि व्युत्थानमसहमानः उत्सुकः सन् कदा त्वां साक्षात्करिष्यामि ।। २ ।।

ततोऽपि—

गाढानुरागवशतो निरपेक्षीभूतमानसोऽस्मि कदा ।
पटपटिति विघटिताखिलमहार्गलस्त्वामुपैष्यामि ॥ ३ ॥

हे करुणाकर शिव ! प्रगाढ अनुरागवशात् लौकिक एवं पारलौकिक समस्त आकांक्षाओं से रहित हृदयवाला मैं हो गया हूँ । पट-पट शब्द से शीघ्र ही तोड़े हुए सारी अविद्यादि मायीयबन्धनों से मुक्त मैं आपके निकट उपस्थित कब हो जाऊँगा ? ॥ ३ ॥

निरपेक्षीभूतम्—उच्चारकरणध्यानाद्यन्तर्मुखं तत्सर्वं परिहरत् मानसं यस्य स तथाविधिः, कदा त्वामुपैष्यामि—ऐकध्येन प्राप्स्यामि । कीदृक् ? पटपटिति विघटितानि—झटिति त्रुटितानि, अखिलानि मायीयानि अर्गलानि—अविद्यादिपाशा यस्य । पटपटिति—इत्याद्युक्त्या अपुनरुत्थान-त्रुटितपाशान्तरसाधर्म्यमुक्तम् ॥ ३ ॥

स्वसंवित्सारहृदयाधिष्ठानाः सर्वदेवताः ।
कदा नाथ वशीकुर्यां भवद्भक्तिप्रभावतः ॥ ४ ॥

हे शरणागतवत्सल देव ! आपकी निर्मल भक्ति के प्रभाव से स्वात्मावबोध-प्रकाश-विमर्शमय अपने आत्मज्ञान के तत्त्वसार हृदय का आश्रय ले कर रहनेवाली सभी चक्षु आदि इन्द्रियों को कब अपने स्वाधीन कर सकूँगा ? ॥ ४ ॥

स्वसंवित्सारं—प्रकाशविमर्शात्मकं हृदयमधिष्ठानम्—आश्रयो यासां ताः सर्वाः ब्राह्म्यादिका देवताः, याभि

...............शक्तिचक्रस्य भोग्यताम् ।
...............गतः'...........................॥ स्पं०, ३ नि०, १३ श्लो० ॥

इति स्थित्या पशवः पाशिताः । ताः कदा भवद्भक्तेः—समावेशात्मनः प्रभावाद्वशीकुर्यां--तच्चक्रैश्वर्यं प्राप्नुयामिति यावत् ॥ ४ ॥

कदा मे स्याद्विभो भूरि भक्त्यानन्दरसोत्सवः ।
यदालोकसुखानन्दी पृथङ्नामापि लप्स्यते ॥ ५ ॥

हे सर्वव्यापक देव ! आपके विमल भक्तिरूपी आनन्दरस का महोत्सव मुझे अधिकमात्रा में कब प्राप्त होता रहेगा । जब विभिन्न नामवाले ये समस्त स्थावर-जङ्गमरूप विश्वप्रपञ्च चिदालोक के आनन्दरस से आप्लावित बना हुआ कहलायेगा ? ॥ ५ ॥

भूरि—प्रभूतः। उत्सवोक्त्या अतिस्पृहणीयत्वात्तदेकव्यग्रतामात्मन आशास्ते। पृथङ्नामेत्यनेन परं सामरस्यं सूचयति ॥ ५ ॥

ईश्वरमभयमुदारं पूर्णमकारणमपह्नुतात्मानम्।
सहसाभिज्ञाय कदा स्वामिजनं लज्जयिष्यामि ॥ ६ ॥

हे कल्याणकर शिव ! समस्त षड्विध ऐश्वर्य के आश्रयभूत परमेश्वर, निर्भय, सब कुछ देने में समर्थ उदार हृदय, परिपूर्ण, आकांक्षा रहित अकारण-नित्य चिदात्म-स्वरूप, मायाशक्ति से आच्छादित स्वरूपवाले अपने प्रभुपाद का सहसा शाम्भव-समावेश से साक्षात् दर्शन पा कर मैं लज्जित रहूँगा ? ॥ ६ ॥

अशेषविभूत्यास्पदत्वादीश्वरम्। अप्रतियोगित्वादभयम्। सर्वप्रदत्वादुदारम्। निराकाङ्क्षत्वात्पूर्णम्। नित्यत्वादकारणम्। अथ च अकारणं—निर्निमित्तमेव जगद्रूपताग्रहणेन स्वरूपगोपनासारत्वादपह्नुतात्मानम्। यो हि अनीश्वरादिरूपः स गोपायतामात्मानं भगवांस्तु नैवम्। अथ च गोपितात्मैवेति। ईदृशं स्वामिजनं—निजप्रभुं, सहसेति—शाम्भवावेशयुक्त्या कदा अभिज्ञाय—साक्षात्कृत्य, लज्जयिष्यामि—अपह्नुतिप्रधानतद्रूपगुणीकारेण पूर्णचिदेकरूपतयैव प्रथयेत्यर्थः ॥ ६ ॥

कदा कामपि तां नाथ तव वल्लभतामियाम्।
यया मां प्रति न क्वापि युक्तं ते स्यात्पलायितुम् ॥ ७ ॥

हे भक्तवत्सल शिव ! आपकी उस अलौकिक दिव्य प्रसाद की पात्रता का अधिकारी मैं कब बनूँगा ? जबकि मेरे अभिमुख आपकी पलायनता-स्वरूपगोपनता किसी भी स्थिति में उचित नहीं समझी जायेगी ? ॥ ७ ॥

'तव वल्लभताम्'—इत्युक्त्या इदमाह—मम तावदत्यन्तवल्लभोऽसि। तव तु अहमलौकिकभक्तिप्रकर्षात् कदा कामपि—असामान्यां प्रसादपात्रतां प्राप्नुयां यया वल्लभतया मां प्रति—मदाभिमुख्येन तव न क्वापि पलायितुं—स्वात्मानं गोपयितुं युक्तं स्यात्; सततमेव अन्तराविश्य तिष्ठेरित्यर्थः ॥ ७ ॥

तत्त्वतोऽशेषजन्तूनां भवत्पूजामयात्मनाम्।
दृष्ट्यानुमोदितरसाप्लावितः स्यां कदा विभो ॥ ८ ॥

हे सर्वहृदयान्तर्यामिन् देव ! मैं कब सभी प्राणियों को वस्तुतः आप परमेश्वर की पूजा करने में संलग्न हुए देख कर आनन्दरस से आप्लावित हो जाऊँ ? । ८ ॥

सर्वे जन्तवः परमार्थतो यत्किंचित्कुर्वाणाः स्वात्मदेवताविश्रान्तिसार-भवत्पूजामयाः । एतेषां सम्बन्धिन्या तत्त्वतो दृष्ट्या—त्वदनुग्रहमहिमोत्थेन स्वात्मप्रत्यभिज्ञानेन हेतुना, तैरेवानुमोदितः—श्लाघितो यो रसोभक्त्यानन्द-प्रसरस्तेन आप्लावितः—व्याप्तः कदा स्याम् । तत्त्वत इत्यावृत्त्या योज्यम् । अथ वा अशेषजन्तूनामिति कर्मणि षष्ठी । ततश्चायमर्थः—कदा अशेषजन्तून् तत्त्वतो भवत्पूजामयान् दृष्ट्वा अनुमोदनरसेन—आनन्दप्रसरेण आप्लावितः स्याम्—इति । अत्रानुमोदित इति भावे क्तः । उभयत्रापि व्याख्याने 'मत्समः सर्वोऽस्तु'—इत्याशंसातात्पर्यम् ॥ ८ ॥

ज्ञानस्य परमा भूमिर्योगस्य परमा दशा ।
त्वद्भक्तिर्या विभो कर्हि पूर्णा मे स्यात्तदर्थिता ॥ ९ ॥

हे विभो ! जो आपकी चित्स्वरूप समावेशरूपा विमलभक्ति हैं वह तत्त्वज्ञान की सर्वोत्कृष्ट भूमि है और चित्तनिरोधक योग की उत्तम अवस्था मानी जाती है । इसके लिये मेरी प्रार्थना कब सुनेंगे ? ॥ ९ ॥

सर्वशास्त्रेषु ज्ञानं मुक्तिहेतुत्वेनोक्तं, मुक्तेश्च समावेशसतत्त्वयैव व्यवस्थापनात् । तद्रूपा या त्वद्भक्तिः ज्ञानस्य परमा भूः ।

'योगमेकत्वमिच्छन्ति
　　वस्तुनोऽन्येन वस्तुना ।' मा० वि०, अ० ४, श्लो० ४ ॥

इत्यागमलक्षितस्य विचित्रसमावेशात्मनो योगस्य परमा—चैतन्यभैरवैक्या-पत्तिरूपा दशा च या त्वद्भक्तिः, तदर्थिता मम कर्हि—कदा पूर्णाकृतकृत्या स्यात् ॥ ९ ॥

सहसैवासाद्य कदा गाढमवष्टभ्य हर्षविवशोऽहम् ।
त्वच्चरणवरनिधानं सर्वस्य प्रकटयिष्यामि ॥ १० ॥

हे परमशिव ! सारी ऐश्वर्यसम्पदा पराशक्तिरूपी निधि को आप के अनुग्रह से पा कर व्युत्थानदशा के लिये यत्नपूर्वक भलीभाँति सुरक्षित रख कर, इसके फलस्वरूप हर्षोल्लास से पूर्ण हो कर मैं कब उस ज्ञाननिधि को भक्तवृन्द के समक्ष उपस्थित करूँगा ? ॥ १० ॥

सहसैव—झटिति परप्रतिभाविकासेन, असाद्य—आ-समन्तात् स्वात्मसम्भोगपात्रीकृत्य, तथा गाढमवष्टभ्य—व्युत्थानपरिक्षयार्थं प्रयत्नेनात्मीकृत्य, तत एव हर्षविवशः—परमानन्दनिर्भरोऽहं कदा त्वच्चरणवरनिधानं—समस्तसम्पन्मयं भवत्परशक्तिनिधिं सर्वस्य प्रकटयिष्यामि—छन्नतयान्तःस्थितमपि सूचितोपदेशयुक्त्या उन्मुद्रयिष्यामि। परप्रतिभाबलप्रयत्नावष्टम्भपूर्वमनुग्राह्यावलोकनादिकं यत्समावेशसंक्रमोपदेशे तत्त्व, तत्परमसर्वानुग्रहसमर्थं स्यादित्यर्थः। अनेन स्वात्मनः परिपूर्णत्वाद्विश्वजनानुजिघृक्षापरतां सूचयति ॥ १० ॥

परितः प्रसरच्छुद्धत्वदालोकमयः कदा।
स्यां यथेश न किञ्चिन्मे मायाच्छायाबिलं भवेत् ॥ ११ ॥

हे ईश! जो सब ओर फैला हुआ आप का विशुद्ध अद्वैतरूप चित्प्रकाश है, उस स्वरूप में मेरा मानस कब एकरसता को प्राप्त करेगा? ॥ ११ ॥

परितः—समन्तात् प्रसरच्छुद्धः—अद्वयरूपो यस्त्वदालोकः—चित्प्रकाशः, तन्मयः कदा स्याम्। यथा मायाच्छायाविलम्—अद्वयाख्यातिकुहरं मम न किञ्चिद्भवेत्—न किञ्चिच्छिष्येत। छायाशब्देन मायाबिलस्यावास्तवतामाह। मायाच्छायया आबिलं—कालुष्यं न किञ्चिदिति वा योज्यम् ॥ ११ ॥

आत्मसात्कृतनिःशेषमण्डलो निर्व्यपेक्षकः।
कदा भवेयं भगवंस्त्वद्भक्तगणनायकः ॥ १२ ॥

हे भगवन्! सदाशिव से ले कर पृथिवीतत्त्वपर्यन्त समस्त चतुर्दशभुवन वर्ग जिस से आत्मज्ञात हो कर स्फुरित हो रहा है ऐसा वह अद्वैत परमतत्त्व से एकत्व प्राप्त हो कर मैं कब आपके भक्तगणों का अध्यक्ष—गणपतिपद पा सकूँगा? ॥ १२ ॥

आत्मसात्कृतानि—चिदैकध्यमापितानि निःशेषाणि—सदाशिवादिक्षित्यन्तानि मण्डलानि—भुवनानि येन सः। निर्व्यपेक्षः—अद्वितीयः। त्वद्भक्तगणनायकः—प्रधानं कदा स्याम् ॥ १२ ॥

नाथ लोकाभिमानानामपूर्वं त्वं निबन्धनम्।
महाभिमानः कर्हि स्यां त्वद्भक्तिरसपूरितः ॥ १३ ॥

हे करुणाकर देव ! आप ही रुद्र एवं क्षेत्रज्ञ प्रमाताओं में अभिमान के विशेष-कारण हैं। किन्तु मैं तो आपकी निर्मल भक्तिरस से आप्लावित हो कर परिपूर्णहन्ता-रूपिणी महाभिमान से युक्त कब होऊँगा ? अर्थात् मैं ही विश्वप्रपञ्च का स्रष्टा, पालक और संहारक हूँ तथा पण्डित, शूरवीर एवं यज्ञकर्ता हूँ। इस प्रकार विविध आकार-प्रकारों में विभक्त रुद्र, क्षेत्रज्ञ आदि प्रमाताओं के अभिमान का एकमात्र कारण आप परमेश्वर शिव ही है। वस्तुतः आप का ही सर्वकर्तृत्व प्रसिद्ध है अन्य किसी ब्रह्मादि देवों का स्रष्टृत्वादि नहीं है और आप शिव ही एक मात्र उस-उस देवता अथवा प्रमाता में वैसा-वैसा अभिमान उत्पन्न करते हैं। मैं आपकी स्वातन्त्र्य-शक्तिरूपी इच्छाशक्ति से महान् अभिमान वाला हो जाऊँ ? मैं ही विश्वात्मा शिव हूँ। इस प्रकार मैं कब सुदृढ उत्साह वाला हो कर भक्तिसुधारस से परिपूर्ण बनूँगा ? ॥१३॥

'स्रष्टास्मि, स्थापयितास्मि, संहर्तास्मि; तथा पण्डितः शूरो यज्ञवा-नस्मि'—इति नानाविधानां रुद्रक्षेत्रज्ञाभिमानानां त्वमेव चिद्रूपो निबन्धन—कारणम्, अपूर्वं—निर्निमित्तं कृत्वा स्वस्वातन्त्र्येणैवेति यावत्। वस्तुतो हि तवैव सर्वकर्तृत्वान्न ब्रह्मादीनां स्रष्टृत्वादि न वा पाण्डित्यादि कस्यचित्। केवलं त्वमेव तत्र तत्र तथाभिमानमुत्थापयसि। यथा चैवं तथा कर्हि—कदा त्वदिच्छात एव महाभिमानः—'विश्वात्मा चिदानन्दघनः शिव एवास्मि'—इति दृढोत्साहावष्टम्भी भक्तिरसेन पूरितो—व्याप्तः स्याम्। भक्तिरसपूरित इति वदतोऽयमाशयः यदासादितमहाभिमानस्यापि समावेशास्वादमयः प्रभुविषये दासभाव एवोचितः ॥ १३ ॥

अशेषविषयाशून्यश्रीसमाश्लेषसुस्थितः ।
शयीयमिव शीताङ्घ्रिकुशेशययुगे कदा ॥ १४ ॥

हे परमशिव ! समस्त शब्दादि विषयों से शून्य परिपूर्ण श्री-भक्तिरूपी लक्ष्मी के संस्पर्श से सुखी हो कर मैं आध्यात्मिक आदि त्रिविधताप की निवृत्ति करनेवाले आप शिव के पादारविंद में कब विश्राम पाऊँगा ? ॥ १४ ॥

शीताङ्घ्रिकमलयुग्मं—प्राग्वत्। शयीयं—विश्राम्याम्। कीदृक्—अशेषविषयाशून्या—विश्वनिर्भरा येयं श्रीः—भक्तिलक्ष्मीः। तत्कृतेन समाश्लेषेण—दृढावष्टम्भेन सुस्थितः। काव्यार्थः स्पष्टः ॥ १४ ॥

भक्त्यासवसमृद्धायास्त्वत्पूजाभोगसम्पदः ।
कदा पारं गमिष्यामि भविष्यामि कदा कृती ॥ १५ ॥

हे शिव ! भक्तिरूपी अर्थात् सेवारस आसव से अत्यन्त समृद्ध आपकी पूजा-सम्बन्धी भोगरूपी सम्पदा अर्थात् चित्स्वरूप समावेशात्मिका विश्रान्तिरूपिणी विभूति की चरमसीमा का अतिक्रमण कब होगा । अत एव मैं कृतार्थ हो जाऊँगा ? ॥ १५ ॥

भक्त्यासेवन—सेवारसेन, समृद्धा—स्फीता या त्वत्पूजाभोगसंपत्—समावेशविश्रांतिश्रीः, तस्याः पारं प्रान्तकोटिं कदा गमिष्यामि, अत एव कदा कृतार्थः स्याम् ॥ १५ ॥

आनन्दबाष्पपूर-
स्खलितपरिश्रान्तगद्गदाक्रन्दः ।
हासोल्लासितवदन-
स्त्वत्स्पर्शरसं कदाऽस्यामि ॥ १६ ॥

हे करुणाकर शिव ! अन्तःसमावेश से प्रादुर्भूत हर्षोल्लास के कारण नेत्रों में से आँसूओं की धारा रुकी हुई आश्चर्यान्वित और भक्तिभावना से गद्‌गद कण्ठवाला चिदानन्दरूपी अट्टहास से विकसित मुखमण्डल वाला हो कर मैं आपके चित्स्वरूप के सुधारस को कब प्राप्त करूँगा ? ॥ १६ ॥

चिरव्युत्थानान्तरितां समावेशदशामेव आकांक्षति—

आनन्दबाष्पपूरेण—अन्तःसमावेशहर्षवशबिसरदश्रुसन्तत्या, स्खलितः—अस्थानप्रतिहतः । परिश्रान्तः—चिरमनुरणन् । गद्‌गदः—अस्पष्टाक्षरः, आक्रन्दो—महानादो यस्य । हासेन—विकासेन उल्लासितं वदनं—शक्तिमार्गो यस्य; अत एव हासेनोल्लासितं—व्यात्तं शोभितं च वक्त्रं यस्य ॥ १६ ॥

पशुजनसमानवृत्ता-
मवधूय दशामिमां कदा शम्भो ।
आस्वादयेय तावक-
भक्तोचितमात्मनो रूपम् ॥ १७ ॥

हे शम्भो ! पामरप्राणियों के सदृश व्यवहार करनेवाली इस भेदमयी अवस्था को दूर करके आप के भक्तजनों के अनुरूप नित्योदित परमानन्दमय आत्मस्वरूप का मैं कब आस्वादन करूँगा ? ॥ १७ ॥

व्युत्थानपतितभेदमयीम् इमामिति—स्फुटं भान्तीं दशामवधूय—निवार्य। अथ च समावेशप्रसरत्सर्वाङ्गावधूननेनाभिभूय, तावकभक्तोचित्तं—नित्योदितपरमानन्दमयम् आत्मनः—न त्वन्यस्य कस्यचिद् रूपं—स्वरूपं, कदा आस्वादयेय—चमत्कुर्याम् ॥ १७ ॥

लब्धाणिमादिसिद्धि-
विगलितसकलोपतापसन्त्रासः ।
त्वद्भक्तिरसायनपान-
क्रीडानिष्ठः कदासीय ॥ १८ ॥

हे परमशिव ! जिसने चिदैक्यरूपा अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त की हैं और जिसके समस्त सांसारिक दुःख-त्रास उपशान्त हो चुके हैं, ऐसा मैं आपकी भक्तिरूपी रसायन का पान करने की क्रीडा में एकनिष्ठ कब रहूँगा ? ॥ १८ ॥

अणिमादिसिद्धिः—प्राग्वदभेदमयी । अत एव विगलितः—शान्तः उपतापः सन्त्रासश्च यस्य । ब्रह्मादीनां तु भेदमयाणिमादियोगेऽपि मरणादित्रासस्यावश्यंभावात् । तथाभूतोऽपि त्वद्भक्त्यमृतपानप्रमोदपरः स्याम् ॥ १८ ॥

नाथ कदा स तथाविध
आक्रन्दो मे समुच्चरेद् वाचि ।
यत्समनन्तरमेव
स्फुरति पुरस्तावकी मूर्तिः ॥ १९ ॥

हे दिनर्किकर शिव ! वह अवर्णनीय आक्रन्द-महानादरूपिणी वाणी मुझ में से स्वयमेव स्फुटतया कब उच्चारित होगी, जिसके साथ ही आपके सच्चिदानन्द घन स्वरुप मेरे अभिमुख प्रकाशित हो जाये ? ॥ १९ ॥

चिरव्युत्थितस्योक्तिः । स तथाविध इति— वक्तुमशक्यः । आक्रन्दो—महानादः, समुच्चरेत्—स्वयमेवोल्लसेत्, स्फुरति—समावेशेन दीप्यते, मूर्तिः— स्वरूपम् ॥ १९ ॥

गाढगाढभवदङ्घ्रिसरोजा-

लिङ्गनव्यसनतत्परचेताः ।

वस्त्ववस्त्विदमयत्नत एव

त्वां कदा समवलोकयितास्मि ॥ २० ॥

हे करुणाकर शिव ! अत्यन्त प्रगाढ अनुराग के कारण आपके ज्ञानक्रियात्मक चरण-कमलों के आलिङ्गन करने में तत्पर हुए चित्त वाला मैं यह सत् और असत् वस्तु से युक्त अर्थात् भाव और अभावरूप विश्व को आप के रूप में अयत्न ही—बिना ध्यान, पूजा, जप आदि के ही मैं परमार्थरूप से कब देखूँगा ? ॥ २० ॥

इति सर्वदर्शनाचार्य-कृष्णानन्दसागरकृत-हिन्दीव्याख्या-स्तवरञ्जनी ।

वीप्सया व्यसनतत्परशब्दाभ्यां च भक्तिप्रकर्षवैवश्यमाह । वस्त्ववस्त्विदमिति—भावाभावरूपं विश्वम् । अयत्नत एव—ध्यानजपादि विना, त्वामपि—त्वद्रूपम् सम्यक्—तत्त्वतोऽवलोकयितास्मि—द्रक्ष्यामीति शिवम् ॥ २० ॥

इति श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितस्तोत्रावली स्वातन्त्र्य-विजयनामके नवमेस्तोत्रे श्रीक्षेमराजाचार्यकृता विवृतिः ॥ ९ ॥

अथ

दशमं स्तोत्रम्

न सोढव्यमवश्यं ते जगदेकप्रभोरिदम् ।
माहेश्वराश्च लोकानामितरेषां समाश्च यत् ॥ १ ॥

हे परमेश्वर ! विश्व के अद्वितीय परमात्मा आप को निःसन्देहपूर्वक ही यह सहन करना चाहिये; क्योंकि हम चित्स्वरूपसमाविष्ट भक्तवृन्द भी हैं और अन्य पामर-प्राणियों के सदृश मूढ भी रहें, यह आपके लिये शोभनीय नहीं है ॥ १ ॥

माहेश्वराः—विश्वेश्वरस्वरूपसमाविष्टाः, इतरेषां—भेदमयानां ब्रह्मादीनां समाः—इतीदं ते—तव न सोढव्यं—त्वयैवैतन्न सह्यते। स्वभावसिद्धमेवैतत्; यतस्त्वमेवैकः—अद्वितीयो जगतः प्रभुः। चकारौ विरोधहेतुमाहतुः ।

'तत्कथं जनवदेव चरामि' स्तो० ४, श्लो० १० ॥

इति स्थित्या व्युत्थाने इतरेषां लोकानां माहेश्वराः—समाः—इति तव न सोढुं युक्तमित्यन्ये ॥ १ ॥

ये सदैवानुरागेण भवत्पादानुगामिनः ।
यत्र तत्र गता भोगांस्ते कांश्चिदुपभुञ्जते ॥ २ ॥

हे करुणाकर शिव ! जो भक्तलोग आपके अनुराग से सदैव आप परमात्मा के प्रकाश-विमर्शमय चरण-कमलों का अनुगमन करनेवाले होते हैं, वे किसी स्थिति में भी रहते हों, किन्तु परमानन्दमय दिव्यभोगों का रसास्वादन करते हैं ॥ २ ॥

अनुरागेण—आसक्त्या, ये त्वन्मरीचिसम्बद्धास्ते तत्र तत्रेति—सर्वावस्थास्थिताः, कांश्चित्—परमानन्दमयान् भोगानुपभुञ्जते ॥ २ ॥

भर्ता कालान्तको यत्र भवांस्तत्र कुतो रुजः ।
तत्र चेतरभोगाशा का लक्ष्मीर्यत्र तावकी ॥ ३ ॥

हे विश्वनाथ ! आप काल के भी महाकाल अर्थात् विश्व का भरण-पोषण करनेवाले विश्वंभर—रक्षक-पालक हों, वहाँ पर रोग-दुःख कहाँ ? और जहाँ पर आपकी लक्ष्मी—अद्वैतरूपी ऐश्वर्यसम्पदा हों। उसमें फिर अन्य भौतिक जगत् के भोगों की अभिलाषा कैसे रहेगी ? ॥ ३ ॥

कालान्तकः—इत्यनेन महाकालसच्चार्यमाणाः सर्वा रुजः कालग्रासिनि प्रभौ सति कुतः ? मूलोच्छेदान्नैव भवन्तीत्यर्थः। इतरभोगाशा—सदाशिवादिपदलक्ष्मीस्पृहा का ? न काचित्; भेदस्य ग्रस्तत्वात्। लक्ष्मीः—अद्वयप्रकाशसंपत् ॥ ३ ॥

क्षणमात्रसुखेनापि विभुर्येनासि लभ्यसे ।
तदैव सर्वः कालोऽस्य त्वदानन्देन पूर्यते ॥ ४ ॥

हे परमशिव ! जिस भक्त ने समावेशदशा का एक क्षण के लिये भी सुखानुभव प्राप्त किया हो और आप सर्वथापक परमात्मा का हृदय-कमल में दिव्यदर्शन किया हो, उसी समय इस भक्त का व्युत्थानकाल सम्वन्धी सारा समय आप चिद्रूप परमात्मा के सुखानन्द से भर जाता है। आशय यह है कि जिसके द्वारा क्षणमात्र समावेश-भूमिकाजन्य सुखानुभूति का विषय आप सर्वव्यापक देव हुए हों। उस भक्त का उसी काल से व्युत्यानदशा सम्वन्धी सारा समय आपके परमानन्दरस से भर जाता है अर्थात् अकाल-कलितचिदानन्दस्वरूप में पहुँचने से स्वरूप की एकता सिद्ध हो जाती है और उत्तरकाल में उसके संस्कारप्रवाह से आप्लावित हो जाता है ॥ ४ ॥

येन भक्तेन, क्षणमात्रेण समावेशस्पन्देन हेतुना, असि—त्वं लभ्यसे, अस्य—भक्तस्य त्वया तदैवावसरे सर्वः कालः—व्युत्थानदशाभाव्यपि आनन्देन पूर्यते—अकालकलिताचिदानन्दस्वरूपानुप्रवेशेन तन्मयीक्रियते; उत्तरकालं च तत्संस्कारेणाप्लाव्यते। विभुः—स्वामी व्यापकश्च ॥ ४ ॥

आनन्दरसबिन्दुस्ते चन्द्रमा गलितो भुवि ।
सूर्यस्तथा ते प्रसृतः संहारी तेजसः कणः ॥ ५ ॥
बलिं यामस्तृतीयाय नेत्रायास्मै तव प्रभो ।
अलौकिकस्य कस्यापि माहात्म्यस्यैकलक्ष्मणे ॥ ६ ॥

हे प्रभवनशील शिव ! यह चन्द्रमा तो आपके चित्स्वरूप के आनन्द सुधारस का एक बिन्दुमात्र है, जो इस विश्व में विगलित हुआ है और यह सूर्य आपके चित्स्वरूपसम्बन्धी संहारक—भेदग्रासी कण के रूप में अग्नि की चिनगारियाँ बरसाता रहता है तथा अन्धकार को दूर करने के लिये प्रकाशित हुआ है किन्तु हमलोग तो ब्रह्मा-इन्द्र-उपेन्द्र आदि देवों के अविषयभूत किसी अलौकिक प्रभाव के चिह्नवाले आपके इस प्रमातृरूप तृतीयनेत्र पर न्योछावर हो जाते हैं अर्थात् आपके वह्निरूप तृतीयनेत्र में अपनी प्रमातृता का समर्पण कर देते हैं ॥ ५-६ ॥

ते—तव, भुवि—अग्नीषोमात्मकमध्यशक्तिमार्गे, आनन्दरसबिन्दुर्यः स एवाह्लादकारित्वाच्चन्द्रमाः, गलितः—द्रुतस्वभावः । इन्दुश्चन्द्रमाश्च गलितः—मनः-प्रमेयराशिसहितं तत्रैव विलीनम् । तथा तत्रैव संहारीभेदग्रासी तेजसः कणः—परमाग्निस्फुलिङ्गो यः, स एव प्रकाशकत्वतमोपहत्वादेः सूर्यः प्रसृतः । सूर्यश्च प्राणे विलीनः, द्रावितसोमसूर्या हि परा शाक्ती भूमिः । अस्मै—शक्तिरूपाय नेत्राय बलिं यामः । अपि च,—भुवि यश्चन्द्रमाः स त्वदीयआनन्दरसबिन्दुः गलितः—स्रुतः । सूर्यश्च तव सम्बन्धिनः तेजसः कणः प्रसृतः—स्फुरितः । यथागमः

'ज्ञानशक्तिः प्रभोरेषा तपत्यादित्यविग्रहा ॥' स्व० तं० १० प०, श्लो० ४९९ ॥

'तपते चन्द्ररूपेण क्रियाशक्तिः परस्य सा ॥' स्व० तं०, १० प०, श्लो० ५०२ ॥

इति । अस्मै—एतदर्थं सूर्यचन्द्रोल्लासिनाय तव यत् तृतीयं नेत्रं तस्मै, बलिं यामः—अत्रैव महावह्निमये मायीयदेहादिप्रमातृतां समर्पयामः । कीदृशाय ? कस्यापि—असामान्यस्य ब्रह्मेन्द्रोपेन्द्राद्यगोचरस्य अलौकिकस्य माहात्म्यस्य एकलक्ष्मणे—असाधारणाभिज्ञानाय । अस्मै इति—तादर्थ्ये चतुर्थी ॥ ५–६ ॥

तेनैव दृष्टोऽसि भवद्दर्शनाद्योऽतिहृष्यति ।
कथञ्चिद्यस्य वा हर्षः कोऽपि तेन त्वमीक्षितः ॥ ७ ॥

हे परमेश्वर ! जो भक्तजन पराशाक्तसमावेश के बल से आपके परमदिव्य स्वरूप का साक्षात्कार करके अपने आप में अत्यन्त हर्ष का अनुभव करता है, वस्तुतः उसी ने आप से अभेद-उपासना से दर्शन किया है अथवा किसी प्रकार शाम्भव समावेशक्रम से जिसको अलौकिक आनन्द उल्लास का अनुभव मिल गया है, उसी ने आपके यथार्थ स्वरूप का दर्शन किया है ॥ ७ ॥

'उच्चाररहितं वस्तु
चेतसैव विचिन्तयन्' ।। मा० वि०, अ० २, श्लो० २२।

इति शाक्तसमावेशयुक्त्या भवन्तं दृष्ट्वा योऽतिहृष्यति—आनन्दमयो भवति, तेनैव कापि त्वदभेदोपासापरेण असि—त्वं दृष्टः। कथञ्चिदिति—

'अकिञ्चिच्चिन्तकस्य……।' मा० वि०, अ० २, श्लो० २३ ।।

इति शाम्भवसमावेशक्रमेण वा यस्य कोऽपि हर्षो न तु भेदोपासापरेण हर्षः, तेन कोऽपीति—चिद्घनस्त्वमीक्षितः—प्रत्यभिज्ञातः ।। ७ ।।

येषां प्रसन्नोऽसि विभो यैर्लब्धं हृदयं तव ।
आकृष्य त्वत्पुरात्तैस्तु बाह्यमाभ्यन्तरीकृतम् ।। ८ ।।

हे सर्वव्यापक देव ! जिन लोगों के प्रति आप उदार हृदय हो जाते हों और जिन्होंने आपके प्रकाश-विमर्शात्मक स्वरूप का साक्षात्कार किया है, उन्हें तो आपके चिद्रूप से शरीर-इन्द्रियादि की अपेक्षा बाहरी विश्व को निकाल कर पुनः अपने भीतर स्वात्मस्वरूप में समेट लिया है ।। ८ ।।

प्रसन्नोऽसीति प्राग्वत्। अत एव हृदयं—प्रकाशविमर्शात्मकं रूपं लब्धम्—आत्मीकृतं यैस्तैस्त्वत्पुरात्—त्वदीयात्पूरकाच्चिद्रूपात् आकृष्य—विस्फार्य; देहाद्यपेक्षया बाह्यं विश्वमिदं पुनराभ्यन्तरीकृतम्

'सृष्टिं तु सम्पुटीकृत्य……।' प० त्रि० श्लो० ३० ।।

इति श्रीत्रिंशकोक्ततत्त्वार्थदृशा संविद उदितं संविदभेदेन चाभासमानं विश्वं चिन्मयमेवैषामिति यावत्। अनुरणनशक्त्या लौकिकेश्वरार्थः प्राग्वत् ।। ८ ।।

त्वदृते निखिलं विश्वं समदृग्यातमीक्ष्यताम् ।
ईश्वरः पुनरेतस्य त्वमेको विषमेक्षणः ।। ९ ।।

हे परमशिव ! आपके बिना यह सारा विश्वप्रपञ्च तो मायीयभेद प्रथारूपी दृष्टि के कारण दो नेत्रों से युक्त—द्वैतप्रधान देखने में आता है। किन्तु इस विश्व के अधिष्ठातृदेव अद्वितीय परमेश्वर आप अभेदभाव से तो विषयचक्षु अर्थात् तीन नेत्रों वाले हों ।। ९ ।।

समदृगिति। समा— तुल्या भेदमयी दृक्—संवित्तिर्यस्य तत्, द्विनयनं च, ईक्ष्यतां—प्रमेयतां यातम्। एक इति—अद्वितीयः, विषमं—भेदप्लोषकमीक्षणं—ज्ञानं यस्य, त्रिनेत्रश्च ॥ ९ ॥

आस्तां भवत्प्रभावेण विना सत्तैव नास्ति यत्।
त्वद्दूषणकथा येषां त्वदृते नोपपद्यते ॥ १० ॥

हे परमात्मन्! चार्वाक, बौद्ध, सांख्य, मीमांसा-अनीश्वर वादी लोग आपके विषय में अनेक प्रकार की कल्पित-दूषण चर्चा कहते रहते हैं। किन्तु इससे आपके चित्स्वरूप के बिना कभी भी संभव नहीं हो सकती है और न आपके चित्स्वरूप के प्रभाव के बिना उनका कोई अस्तित्व ही देखने में आता है। इसलिये उक्त विषय की चर्चा यहाँ पर ही छोड़ दिया जाय ॥ १० ॥

येषां—बौद्धसांख्यमीमांसकादीनां, त्वद्दूषणकथा दूषयित्रात्मकप्रस्फुरच्चिद्रूपं त्वत्स्वरूपं विना नोपपद्यते, येषां विचित्रतनुकरणप्रज्ञानां बुद्धिमत्प्रभावं विना सत्तैव नास्ति—इत्यादि युक्तिवृन्द पतितपार्ष्ण्याघातकल्पमास्ताम् ॥ १० ॥

बाह्यान्तरान्तरायालीकेवले चेतसि स्थितिः।
त्वयि चेत्स्यान्मम विभो किमन्यदुपयुज्यते ॥ ११ ॥

हे सर्वात्मन् शिव! शरीरेन्द्रिय प्रमातृता को ले कर उस वस्तु के संयोग-वियोग आदि बाहरी और बुद्धि आदि को लेकर कामना-संकल्प आदि भीतरी स्वविश्रान्ति अवरोधक पङ्क्तियों से रहित बने हुए आपके संवित्स्वरूप में मेरी समावेशात्मिका दशा प्राप्त हो जाय। इससे फिर कौन-सी अन्य वस्तुएँ उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं? अर्थात् प्राप्तव्य वस्तु की प्राप्ति हो जाने से अन्य किसी भी वस्तु की अपेक्षा नहीं रह जाती है ॥ ११ ॥

बाह्याः— शरीरप्रमातृतापेक्षतत्तद्वस्तुसंयोगवियोगादयः। आन्तराः— बुद्ध्याद्यपेक्षकाननासङ्कल्पादयो ये अन्तरायाः—स्वविश्रान्त्युपरोधिनः, तेषामाली—पङ्क्तिस्तया केवले—रहिते, त्वद्विषये चेतसि यदि मम स्थितिः—समावेशैकाग्रता स्यात्, तत्किमन्यदुपयुज्यते;—प्राप्तव्यस्यैव प्राप्तत्वात् ॥ ११ ॥

अन्ये भ्रमन्ति भगवन्नात्मन्येवातिदुःस्थिताः।
अन्ये भ्रमन्ति भगवन्नात्मन्येवातिसुस्थिताः ॥ १२ ॥

हे भगवन् ! कुछ अनात्मज्ञ-जडवादी पामरलोग अपने ही स्वरूप में भ्रमित हो कर जन्म-मरण के चक्र में बँध जाते हैं और अत्यन्त दुःखी होते रहते हैं। इसलिये कि इनको अपना आत्मस्वरूप का यथार्थ अवबोध नहीं है। तथा हे शिव ! कुछ तत्त्वज्ञ पुरुष कहीं किसी अन्य वस्तु में नहीं अपितु अपने ही आत्मस्वरूप में—चित्स्वरूप में परमानन्दपूर्ण हो कर यथेष्ट विचरण करते हैं ॥ १२ ॥

अन्य इति—नैरात्म्यजडात्मवादिनः संसारिणश्च, आत्मनि—निज एव स्वरूपे, भ्रमन्ति—विपर्यस्यन्ति; जन्ममरणादिपरम्परामपर्यन्तां भजन्ते। अतिदुःस्थिताः तत्त्वज्ञत्वाभावात् क्लिश्यन्ते। अन्ये इति—केचिदेवापश्चिमाः, आत्मन्येव—चिद्रूपे न तु परत्र क्वचिदपि, अतिसुस्थिताः—परमानन्दैकघनाः सन्तो, भ्रमन्ति—विहरन्ति ॥ १२ ॥

अपीत्वापि भवद्भक्तिसुधामनवलोक्य च।
त्वामीश त्वत्समाचारमात्रात्सिद्ध्यन्ति जन्तवः ॥१३॥

हे परमेश्वर ! आपकी भक्तिरूपी सुधा अर्थात् शाक्तसमावेश आनन्दरस का आस्वादन न कर भी तथा आपके चित्स्वरूप का थोड़ा-सा भी दर्शन न पा कर भी आप परमेश्वर की बाह्य जप आदि परिचर्या करने मात्र से ही संसारी जीवात्मा परसिद्धि के पात्र बन जाते हैं ॥ १३ ॥

त्वद्भक्तिसुधां—शाक्तसमावेशानन्दरसम् अपीत्वापि—अचमत्कृत्यापि, अनवलोक्य च त्वामिति—चित्स्वरूपं त्वां मनागप्यप्रत्यभिज्ञाय, जन्तवः—जन्मादिभाजोऽपि, त्वत्समाचारमात्रादिति—तत्तदाम्नायचर्यापादोक्तात् सिद्ध्यन्ति—परसिद्धिभाजो भवन्ति। अपिशब्देन मात्रशब्देन च विस्मयो ध्वन्यते। तथा ह्यागमे

'कदाचिद्भक्तियोगेन चर्यया···।' श्रीवीर तं० ॥

इत्युपक्रम्य

'संसारिणोऽनुगृह्णाति विश्वस्य जगतः पतिः ॥' श्रीवीर० तं० ॥

इत्यन्तमुक्तम्। अस्मद्गुरुभिरपि तन्त्रसारेऽभिहितं—

'परमेसरु सच्छन्दु बहुकोणविअ अप्पाइइच्छ।
चरिआसि तु णणिजजपाहु कि अभवणो अइअच्छ ॥'

इति । १३ ॥

भृत्या वयं तव विभो तेन त्रिजगतां यथा ।
बिभर्ष्यात्मानमेवं ते भर्त्तव्या वयमप्यलम् ॥ १४ ॥

हे सर्वव्यापक देव ! हम लोग तो आपके भृत्य हैं। अत एव जिस प्रकार आप त्रिलोकी की आत्मा को धारण करते हैं इसी प्रकार हमलोग भी आप के द्वारा पूर्णतया धारण-पोषण किये जाने योग्य हैं। जबकि इसलिये हमलोग आपके भृत्य-सेवक हैं ।। १४ ।।

त्रिजगतामिति प्राग्वत् । बिभर्षि इति—धारयसि पोषयसि च। आत्मानं—स्व रूपम् । वयमप्यलम्—इत्यत्रायमाशयः यथा त्वया विश्वमन्तर् अभेदेन बिभ्रतापि देहाद्यभिमानग्रहणेन वस्तुतस्त्वन्मया अपि वयं व्यतिरेकोचिता इव यन्न भिन्नमेव विश्वं जानीमः, ततोऽलम्—अत्यर्थं ते—तव वयं धारणीयाः पोषणीयाश्च, यतो भृत्याः स्मः ॥ १४ ॥

परानन्दामृतमये दृष्टेऽपि जगदात्मनि ।
त्वयि स्पर्शरसेऽत्यन्ततरमुत्कण्ठितोऽस्मि ते ॥ १५ ॥

हे परमशिव ! परम आनन्दरूप अमृतमय आप विश्वात्मा का व्युत्थानदशा में भी प्रत्यभिज्ञान होने पर भी मैं स्वात्मसमावेशात्मक प्रगाढ संस्पर्शजनित सुख पाने के निमित्त अत्यन्त सोत्कण्ठित रहता हूँ ॥ १५ ॥

त्वयि—परानन्दसारे, नीलपीतादिरूपेण जगदात्मनि दृष्टेऽपि—व्युत्थाने तन्मुखेन प्रत्यभिज्ञातेऽपि, [स्पर्शरसे—गाढसमावेशस्पर्शप्रसरे, ते—तव भृशमुत्कण्ठितोऽस्मि ॥ १५ ॥

देव दुःखान्यशेषाणि यानि संसारिणामपि ।
धृत्याख्यभवदीयात्मयुतान्यायान्ति सह्यताम् ।। १६ ।।

हे क्रीडादिशील देव ! जितने भी आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक सांसारिक दुःख-क्लेश पाये जाते हैं, वे सब के सब धृतिसंज्ञक आप चित्स्वरूप से

सम्बन्धित रहते हैं। इसलिये भवपाश से बँधे हुए प्रमाताओं के लिये तो सर्वथा सहनीय हैं। आशय यह है कि आप धृतिस्वरूप परमशिव के प्रभाव से समस्त भौतिक क्लेश सहनीय हो जाते हैं; स्वाभाविक आपके प्रिय भक्तों में सांसारिक दुःखों को सहन करने की शक्ति आ जाती है ॥ १६ ॥

हे देव—क्रीडादिशील ! अशेषाणि—कीटब्रह्मादिविस्पन्दितानि तावद्दुःखानि; भेदमयत्वात्। तान्यपि संसरणपराणां प्रमातॄणां सोढव्यतां गच्छन्ति। यतो धृत्याख्येन।

'इदमद्य मया लब्धमिदं प्राप्स्ये मनोरथम्।' भ० गी०। १६, १३॥

इत्याद्यभिमानावष्टम्भग्राहिणा त्वदीयेनात्मना युतानि—संपृक्तान्येतानि ॥१६॥

सर्वज्ञे सर्वशक्तौ च त्वय्येव सति चिन्मये।
सर्वथाप्यसतो नाथ युक्तास्य जगतः प्रथा ॥ १७ ॥

हे शरणागतवत्सल प्रभो ! आप चिन्मय, सर्वज्ञ-सर्वशक्तिमान परमेश्वर की प्रस्फुरता से ही सर्वथा असत् जडरूप इस विश्वप्रपञ्च की प्रथा-सत्ता सब प्रकार से सम्बन्धित सिद्ध होती है ॥ १७ ॥

अस्य जगतः—विश्वस्य, सर्वथापि—देशकालाकारार्थक्रियाकारित्वादिना स्वरूपेण प्रकाशबाह्यस्यानुपपद्यमानत्वादविद्यमानस्य, त्वयि चिन्मये सर्वशक्तौ— स्वतन्त्रे सर्वावभासके च सति, सर्वथापि प्रथा युक्ता। सर्वथेत्युभयत्र योज्यम् ॥ १७ ॥

त्वत्प्राणिताः स्फुरन्तीमे गुणा लोष्टोपमा अपि।
नृत्यन्ति पवनोद्धूताः कार्पासपिचवो यथा ॥ १८ ॥

यदि नाथ गुणेष्वात्माभिमानो न भवेत्ततः।
केन हीयेत जगतस्त्वदेकात्मतया प्रथा ॥ १९ ॥

हे दिनकिंकर ! जिस प्रकार कार्पास-रूई के छोटे-छोटे टुकड़े पवन द्वारा उड़ाये जाने पर नाचने लगते हैं। इसी प्रकार ये सभी चक्षु आदि इन्द्रियाँ तो मिट्टी के सदृश अचेतन ही हैं। किन्तु आप परमात्मा की चिद्रूपता से अनुप्राणित-जीवित हो कर ये सब अपने अपने कार्य का संपादन करती हैं। यदि उन इन्द्रियों में अभिमान न होता और आप के स्वरूप संस्पर्श की संप्राप्ति न होती अर्थात् स्वात्मपरामर्श की स्थिति को तो कोई भी व्यक्ति नहीं छोड़ पाता है ॥ १८-१९ ॥

गुणाः—बुद्धयादिपरिस्पन्दाः, लोष्टोपमा अपि—जडाः, त्वत्प्राणिताः—त्वज्जीविताः सन्तः स्फुरन्ति, अन्यथा न कथञ्चिच्चकास्युः। अत्र दृष्टान्तः—यथा कार्पासानां पिचवः—लेशाः पवनेन—वायुना उच्चैर्धूताः सन्तो नृत्यन्ति—नभसि विलसन्ति। एवं च हे नाथ यदि भक्तेषु गणेषु त्वन्मायाशक्तिदत्त आत्माभिमानो न भवेत्ततोऽस्य जगतः त्वदेकात्मतया—त्वदभेदेन या प्रथा, सा केन हेतुना हीयेत—न केनचिन्निवार्येत; भक्तानां विश्वस्य त्वदैक्येन स्फुरणात्।

"गुणादिस्पन्दनिःष्यन्दा……।

……स्युर्ज्ञस्यापरिपन्थिनः॥" स्पं०, १ नि, १९ श्लो० ॥

इत्युक्तम् ॥ १८-१९ ॥

वन्द्यास्तेऽपि महीयांसः प्रलयोपगता अपि।
त्वत्कोपपावकस्पर्शपूता ये परमेश्वर ॥ २० ॥

हे परमेश्वर! वे काल कामदेव, त्रिपुरासुर और अन्धकासुर आदि सभी दैत्यगण अलौकिक एश्वर्यसम्पन्न थे और वन्दनीय थे। यद्यपि वे लोग आप के द्वारा विनाशभाव को प्राप्त हुए थे, तो भी आप के कोपरूपी अग्निज्वाला से प्रज्वलित हो कर विदग्ध—परमभाव को प्राप्त हो गये हैं ॥ २० ॥

तेऽपीति—कालकामत्रिपुरान्धकाद्याः। न केवलं साक्षादनुगृहीताः भक्तिमन्तः—इति अपिशब्दार्थः। महीयांस इति—अलौकिकमाहात्म्ययुक्ताः। प्रलयं—विनाशमुपगता अपि ये ते—तव श्रीकण्ठाद्यवतारवपुषः सम्बन्धिना निग्रहद्वारकानुग्रहात्मना क्रीडाकोपाग्निस्पर्शेन पवित्रिताः ॥ २० ॥

महाप्रकाशवपुषि विस्पष्टे भवति स्थिते।
सर्वतोऽपीश तत्कस्मात्तमसि प्रसराम्यहम् ॥ २१ ॥

हे ईश! यद्यपि आपका ज्ञानप्रकाशस्वरूप सब प्रकार से सुस्पष्ट है। तो भी मैं किस कारण को ले कर अज्ञानतम में भटक रहा हूँ ॥ २१ ॥

व्युत्थानवैवश्यात् साक्षात्कारभूमिमलभमानस्य उक्तिरियम् । यतः कानिचिदत्र समावेशोत्कर्षशंसीनि, अन्यानि व्युत्थानप्रहाणाकांक्षापराणि, अपराणि सर्वात्म्यप्रथाप्रथयितृणी पराणि निःशेषभेदोपशममयशिवताशसापराण्यस्य सूक्तानि । तानि च यथायोगं संयोजितानि सयोजयिष्यन्ते च, इति नास्यास्मत्परमेष्ठिन ईदृगुक्तिषु अपूर्णता मन्तव्या । विस्पष्टेऽपीति—विश्वप्रकाशमये । तमसि प्रसरामीति—व्युत्थानविवशो भवामीति ॥ २१ ॥

अविभागो भवानेव स्वरूपममृतं मम ।
तथापि मर्त्यधर्माणामहमेवैकमास्पदम् ॥ २२ ॥

हे परमशिव ! अविभाग-विभाग रहित अद्वैतस्वरूप आप परमशिव ही मेरे लिये अमृत आनन्दधाम पारमार्थिकतत्त्व हों और इससे मैं व्युत्थानदशा में देहादि अचेतन वस्तु में मिथ्या अभिमान करनेवाला अर्थात् चित्स्वरूप को छोड़ करके मर्त्यधर्मों का ही एकमात्र स्थान बन रहा हूँ ॥ २२ ॥

इयमप्युक्तवदेवोक्तिः । भवानेव—न त्वन्यत् किंचित् । अमृतम्—आनन्दघनं । मर्त्यधर्माणां—हानादानादिप्रयासानाम् । अहमिति—व्युत्थाने देहाद्यभिमानमयः, न तु चिद्रूपः । एक एवेति—प्राग्वत् ॥ २२ ॥

महेश्वरेति यस्यास्ति नामकं वाग्विभूषणम् ।
प्रणामाङ्कश्च शिरसि स एवैकः प्रभावितः ॥ २३ ॥

हे परमशिव ! 'महेश्वर' ऐसा आपका अति पावन नाम जिस भक्त की वाणी का आभूषण बन जाता है और जिसका सिर सदैव आप का सर्वत्र सर्वस्वरूपमय सबको आपके रूप में प्रणाम करने में तत्पर रहता है । वही व्यक्ति महान् ऐश्वर्य सम्पन्न कहलाता है ॥ २३ ॥

नामकं—यद्वन्दिनः पठन्ति, तत् महेश्वर, ब्रह्मादिविश्वेश्वर, प्रभो—इति यस्य वाचो विभूषणमस्ति, तथा शिरसि प्रणामाङ्कः—परस्वभावप्रह्वताभिज्ञानं च यस्यास्ति, स एवैकः—अद्वितीयः, प्रभौ—महेश्वरे इतः—सम्बद्धः । अथ वायं प्रणामाङ्कितः—समाविष्टो भक्तिशाली भगवदभेदस्पर्शप्राप्तेः नामाङ्कत्वात् प्रभावितः—प्रख्यातः ॥ २३ ॥

सदसच्च भवानेव येन तेनाप्रयासतः ।
स्वरसेनैव भगवंस्तथा सिद्धिः कथं न मे ।। २४ ।।

हे षड्विध ऐश्वर्यसम्पन्न देव ! जबकि सद्रूप प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले घट-पटादि वस्तुएँ और असद्रूप आकाशकुसुम आदि वस्तुएँ, जितनी भी भाव एवं अभाव-रूप से विश्व में देखी जाती है वे सब की सब आप विराट् परमशिव के ही स्वरूप हैं और आप के रूप में ही हैं। इसलिये वैसी परसिद्धि मुझे अयत्न ही अर्थात् सहज अयत्न ही नित्योदितत्वरूप से क्यों नहीं प्राप्त हो जाती है ? ।। २४ ।।

सदसदिति—भावाभावरूपं विश्वं त्वमेव यतः, ततो मम अप्रयासतः—उपायजालं विना, स्वरसेनैव—नित्योदितत्वेन कथं तथा न सिद्धिः—त्वत्साक्षात्कार सदोदितो न कस्मादस्ति ।। २४ ।।

शिवदासः शिवैकात्मा किं यन्नासादयेत् सुखम् ।
तर्प्योऽस्मि देवमुख्यानामपि येनामृतासवैः ।। २५ ।।

हे भक्तजनों ! वह कौन-सा परम आनन्द है ? जिसकी परमशिव से एकरूपता नहीं हो पाती है; जबकि मैं तो मुख्य ब्रह्मादि देवों के द्वारा भी सुधारूपी आसवरस से तर्प्य—सुतृप्त किये जाने योग्य हूँ मैं पशु के सदृश भोग्य नहीं हूँ ।। २५ ।।

यत एव शिवदासस्तत एव समाविष्टत्वात् शिवैकात्मा, तत्किं यन्न सुखमासादयेत्,—परमानन्दमयो भवत्येवेत्यर्थः। यतो देवमुख्यानाम्—अन्यैस्तर्पणीयानामपि ब्रह्मादीनां, हृदयादिस्थानस्थितानामिन्द्रियदेवतानां च, अमृतासवैः—प्रमेयप्रथासमयस्फूर्जदद्वयप्रकाशानन्दप्रसरैः, तर्प्यः—परिपूरणीयोऽस्मि न तु पशुवद्भोग्यः ।। २५ ।।

हृन्नाभ्योरन्तरालस्थः प्राणिनां पित्तविग्रहः ।
ग्रससे त्वं महावह्निः सर्वं स्थावरजङ्गमम् ।। २६ ।।

हे करुणाकर शिव ! हृदयप्रदेश एवं नाभिमण्डल के मध्य में स्थित जठरानल-मूर्त्तिरूपी महान् अग्नि समस्त जडचेतनमय इस विश्वप्रपञ्च का ग्रास कर लेती है, वह भी आप परमशिव का ही स्वरूप है ।। २६ ।।

इति श्रीसर्वदर्शनाचार्यश्रीकृष्णानन्दसागरकृत-हिन्दीव्याख्या-स्तवरञ्जनी ।

हृन्नाभ्योरन्तराले—घटस्थाने स्थितः प्राणिनां—सर्वेषां पित्तविग्रहः—पित्तरूपः उष्णान्नाद्याहरणाद्बाह्यस्य तेजसोऽपि ग्रसनान्महावह्निस्त्वम्। अत एव स्थावरजङ्गमग्रासित्वम्। अनेन सर्वप्रमातृजठरादिस्थानेन विश्वभक्षक एक एव परमेश्वरः परमार्थसन्निति शिवम् ॥ २६ ॥

इति श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितस्तोत्रावली अविच्छेदभङ्गाख्ये दशमे स्तोत्रे श्रीक्षेमराजाचार्यविरचिता विवृतिः ॥ १० ॥

अथ

एकादश स्तोत्रम्

जगदिदमथ वा सुहृदो
बन्धुजनो वा न भवति मम किमपि ।
त्वं पुनरेतत्सर्वं
यदा तदा कोऽपरो मेऽस्तु ॥ १ ॥

हे शरणागतवत्सल देव ! इस संसार में सुहृद या बन्धु-बान्धव इनमें से कोई भी मेरा नहीं है, जब आप ही मेरे लिये सब कुछ हो, तो आप से व्यतिरिक्त मेरा कौन हो सकता है ? ॥ १ ॥

जगदादित्रयं लोकक्रमेण अन्तरङ्गमपि मम न किंचित्;—तद्विलक्षणचिन्मात्रैकरूपत्वात् । यदा पुनः प्रकाशमयत्वादेतत्सर्वं त्वमेव, तदा मम अपरः—व्यतिरिक्तः कोऽस्तु,—न किञ्चित्; जगदपि स्वरूपमेवेति यावत् ॥ १ ॥

स्वामिन्महेश्वरस्त्वं साक्षात्सर्वं जगत्त्वमेवेति ।
वस्त्वेव सिद्धिमेत्विति याच्ञा तत्रापि याच्ञैव ॥ २ ॥

हे स्वामिन् ! आप महेश्वर का ही यह सारा ऐश्वर्य है और यह सारा जगत् अधिष्ठानरूप से आप में ही स्थित है। अत एव यह पारमार्थिक वस्तु की ही सिद्धि प्राप्त करे । ऐसी स्थिति में तो केवल प्रार्थना ही रह जाती है ॥ २ ॥

महेश्वर इति प्राग्वत् । साक्षादिति—अद्वयदृष्ट्या, नांशाधिष्ठानेन । इति वस्त्वेव—पारमार्थिकमेवैतत् । तत्रापि—एवमवस्थितेऽपि । एतत्सिद्धिमेतु;—इति या याच्ञा, सा याच्ञैव—

"त्वमेव प्रकटीभूया इत्यनेनैव लज्ज्यते ॥"

शि० स्तो०, ३ स्तो० १६ श्लो० ॥

इति स्थित्या न युक्तैवेत्यर्थः।

"होन्ति कमलाइ कमलाइ"

इति न्यायेन द्वितीयो न्याच्ञाशब्दः अचारुत्वनेष्प्रयोजन्यादिमात्रता-ध्वननपरः ॥ २ ॥

त्रिभुवनाधिपतित्वमपीह य-
त्तृणमिव प्रतिभाति भवज्जुषः ।
किमिव तस्य फलं शुभकर्मणो
भवति नाथ भवत्स्मरणादृते ॥ ३ ॥

हे दिर्नकिंकर शिव ! इस विश्व में जो त्रिलोकी का आधिपत्य है, वह भी आपके चित्समावेशशाली भक्तों को तृण के तुल्य समान दीखता है। उस शुभा-शुभ कर्म का आपके स्मरण के विना कौन-सा फल प्राप्त हो सकता है ? ॥ ३ ।

भवज्जुषः—समावेशयुक्तान्, इति प्रतियोगे शस्। इहेति—अस्मिन्नेव समये। त्रिभुवनाधिपतित्वं—भूर्भुवस्स्वः—स्वामित्वमपि, तृणमिव प्रतिभाति। तस्य—तथाप्रतिभानलक्षणस्य शुभकर्मणोः, भवत्स्मरणादृते—भवत्स्मृति विना, किं फल, न किंचिदन्यद्व्यतिरिक्तमस्तीति यावत्, प्राप्तव्यस्यैव प्राप्तत्वात् ॥ ३ ॥

येन नैव भवतोऽस्ति विभिन्नं
किञ्चनापि जगतां प्रभवश्च ।
त्वद्विजृम्भितमतोऽद्भुतकर्म-
स्वप्युदेति न तव स्तुतिबन्धः ॥ ४ ॥

हे शिव ! आपके चिद्रूप से भिन्न कुछ भी तो नहीं है और स्थावर-जङ्गम वस्तुओं के कर्ता ब्रह्मा भी आपके ही स्वरूप का विस्फार है, अत एव आपके सर्जनादि अद्भुत कर्मों में भी भेदाभाव के कारण स्तुतिबन्ध का ही प्रश्न नहीं उठता है। इसलिये कि स्तुति, स्तुत्य एवं स्तुतिकर्ता आप ही है ॥ ४ ॥

त्वत्तो भिन्नं किंचनापि नास्ति,—सर्वस्य प्रकाशैकरूपत्वात्। जगतां प्रभवोऽपि—ब्रह्माद्याः तवैव जृम्भा येन हेतुना, अतः अद्भुतेषु विश्वसर्ग-संहारादिष्वपि कर्मसु तव स्तुतिबन्धः स्तोत्रादिभेदाभावान्नास्ति;—त्वमेव स्तोत्रस्तुतिस्तुत्यरूपतया भासि, इत्ययमत्र तत्त्वार्थः ॥ ४ ॥

त्वन्मयोऽस्मि भवदर्चननिष्ठः
सर्वदाहमिति चाप्यविरामम्।
भावयन्नपि विभो स्वरसेन
स्वप्नगोऽपि न तथा किमिव स्याम् ॥ ५ ॥

हे विभो ! मैं निरन्तर आप की पूजा करने में दृढचित्त हुआ आप चिद्रूप से अभिन्न बना रहूँ। इस प्रकार व्युत्थानकाल में भी स्वरूपानुसन्धान करता हुआ स्वप्न में पहुँच कर अपनी इच्छानुरूप अर्चनपरायण क्यों नहीं हो पाता हूँ अर्थात् स्वप्न में भी जाग्रत् के समान आपकी पूजा में लगा क्यों हुआ नहीं रहता हूँ ? ॥ ५ ॥

त्वन्मय इति—त्वमेव प्रकृतं रूपं यस्य, तथा भूतोऽस्मि। त्वय्येव चिन्मये विश्वार्पणक्रमेणाहं सर्वदा अर्चननिष्ठः—इत्यविरामं कृत्वा भावयन्नपि—व्युत्थाने अनुसन्दधदपि, स्वप्नगोऽपि स्वरसेनैव—स्वेच्छावशेनैव किमिति न तथैव भवामि — कस्मात्स्वप्नेऽपि — संस्कारप्रबोधसारेऽपि जागरावत् त्वदर्चापरो न भवामि—न समाविशामीति यावत् ॥ ५ ॥

येन मनागपि भवच्चरणाब्जो-
द्भूतसौरभलवेन विमृष्टाः।
तेषु विस्रमिव भाति समस्तं
भोगजातममरैरपि मृग्यम् ॥ ६ ॥

हे कल्याणकर देव ! जो लोग आपके चरण-कमलों से उद्भूत सौरभ के अंशमात्र से थोड़ी-सी भी पात्रता पा जाते हैं, उनके लिये तो फिर देवताओं से भी वाञ्छनीय समस्त सदाशिवपर्यन्त स्वर्गीय भोग-समूह दुर्गन्धि-सा प्रतीत होने लगता है ॥ ६ ॥

चरणाब्जं—प्राग्वत् । सौरभम् — अवस्थास्नुरामोदसंस्कारस्तस्य लवः—अंशमात्रं न तु पूर्णं रूपं, तेन ये विमृष्टाः—मनाङ्मात्रेणापि पात्रीकृताः, तेषु समस्तं—सदाशिवान्तं भोगजातं देवैरपि प्रार्थनीयं विस्र'—दुरामोदमिव प्रतिभाति। एवं च पूर्णसमावेशशालिनां दण्डापूपिकयैव दूरोत्सारितः सिद्धचभिलाषः ॥ ६ ॥

हृति ते न तु विद्यतेऽन्यदन्य-
द्वचने कर्मणि चान्यदेव शंभो ।
परमार्थसतोऽप्यनुग्रहो वा
यदि वा निग्रह एक एव कार्यः ॥ ७ ॥

हे शम्भो ! आपके हृदय में कुछ, वचन में कुछ और कर्म-व्यवहार में कुछ दूसरा ही हो, यह बात नहीं है। जबकि परमार्थरूप से भक्त पर अनुग्रह या निग्रह इन दोनों में से किसी एक को ही करना चाहिये ॥ ७ ॥

चिदद्वयप्रथारूपो महादेवः यत्र प्रथितुं प्रवृत्तः तत्र हृदयादनुष्ठानपर्यन्तं प्रथते। यत्र तु गूहितात्मा, तत्र हृदि, वचसि कर्मणि च गूहितात्मैव, यतः परमार्थेन सतः—साधोः सात्त्विकस्य च वस्तुतो निग्रहानुग्रहयोर्मध्यादेकमेव कर्त्तव्यं भवति न तु शबलचेष्टितत्वम्—इति अर्थान्तरन्यासाद् भेदः। प्रकृतेऽर्थे निग्रहानुग्रहौ—स्वरूपनिमीलनोन्मीलने, अप्रकृतेऽपि—अपकारोपकाराविति श्लेषच्छायापि ॥ ७ ॥

मूढोऽस्मि दुःखकलितोऽस्मि जरादिदोष-
भीतोऽस्मि शक्तिरहितोऽस्मि तवाश्रितोऽस्मि ।
शम्भो तथा कलय शीघ्रमुपैमि येन
सर्वोत्तमां धुरमपोज्झितदुःखमार्गः ॥ ८ ॥

हे शम्भो ! मैं मूढ हूँ, संसार के दुःखों से आक्रान्त हूँ, जन्म-जरा आदि दोषसमूह से भयभीत हूँ, और मैं शक्ति रहति हूँ। किन्तु आपके आश्रित हूँ। मेरे लिये ऐसा कीजिये कि जिससे मैं दुःखमय मार्ग को छोड़ कर स्वरूपसमावेशरूपी सर्वोत्तमज्ञान पदवी पर शाम्भवोपाय द्वारा अविलम्ब ही पहुँच जाऊँ ॥ ८ ॥

व्युत्थानापेक्षयैवैतदित्युक्तप्रायम्। 'तवाश्रितोऽस्मि'—इत्यत्र भरं कृत्वा उत्तरार्धं योज्यम्। कलय—सम्पादय। सर्वोत्तमां—सम्पूर्णसमावेशमयीम् ॥ ८ ॥

त्वत्कर्णदेशमधिशय्य महार्घभाव-
माक्रन्दितानि मम तुच्छतराणि यान्ति।
वंशान्तरालपतितानि जलैकदेश-
खण्डानि मौक्तिकमणित्वमिवोद्वहन्ति ॥ ९ ॥

हे देव ! मेरी अर्थहीन तुच्छ आक्रन्दित पुकारें आपके कर्णनिकट पहुँच कर अत्यन्त गौरव को पा जाती है। जैसे—स्वातिजल की छोटी-छोटी बूँदें वंश में मणि, कदली में कपूर और सीप में मोती का रूप धारण कर लेती हैं ॥ ९ ॥

अधिशय्य—प्राप्य, महार्घभावम्—अनर्घत्वम्, तुच्छतराणीति अनौद्धत्यं ध्वनति। यान्तीति तु अतिभक्तत्वेन निश्चितप्रतिपत्तित्वात्। वंशान्तरे इत्यर्थान्तरन्यासः स्पष्टः ॥ ९ ॥

किमिव च लभ्यते बत न तैरपि नाथ जनैः
क्षणमपि कैतवादपि च ये तव नाम्नि रताः।
शिशिरमयूखशेखर तथा कुरु येन मम
क्षतमरणोऽणिमादिकमुपैमि यथा विभवम् ॥ १० ॥

हे करुणाकर शिव ! एक क्षण भी छल-छद्म से रहित हो कर जो लोग आपके पावन नाम का स्मरण श्रद्धापूर्वक कर लेते हैं; उन्हें कौन-सी वस्तु दुर्लभ हो जाती है, वे सब कुछ पा लेते हैं। इसी से हे शिशिरमयूखशेखर ! हे सन्तापहारिन् ! मेरे लिये वैसा ही कीजिये, जिससे मैं मृत्युपाश से विमुक्त हो कर वैभवपूर्ण अणिमादिक सिद्धियों को पा जाऊँ ॥ १० ॥

कैतवात्—व्याजादपि ये जनास्तव नाम्नि—न तु तात्त्विके स्वरूपे रतास्तैरपि किं न लभ्यते—पूजासत्काराद्यभीष्टमपरिज्ञाततदाशयेभ्यः सकाशात्प्राप्यत एव। ये तु परमार्थतः सततं च त्वयि रताः, ते अर्थादेव परमार्थमया एव। अतो हे शिशिरमयूखशेखर—सर्वसन्तापहारिन् ! तथा कुरु यथा प्राग्व्याख्यातरूपाणिमादिकं विभवमुपैमि। क्षतमरणः—अकाल-

कलितः। अस्य पदस्यायमाशयः—यद् ब्रह्मादयः अणिमादिविभूतियुक्ता अपि मृतिधर्माण एव। यथोक्तमस्मद्‌गुरुभिः क्रमकेलौ

'श्रीमत्सदाशिवपदेऽपि गतोग्रकाली
भीमोत्कटभ्रुकुटिरेष्यति भङ्गभूमिः ॥'

इति। अतो मां क्षतमरणं—चिदानन्दघनमद्वयाणिमादिपात्रं कुरु। ये तु विभूतिस्पृहापरत्वेनैतद्व्याकुर्वते तेषां

'स्मरसि नाथ कदाचिदपी हितं' ॥ शि० स्तो० ४, श्लो० २० ॥

इति,

'सत्येन भगवन्नान्यः……' ॥ शि० स्तो० १६, श्लो० ६ ॥

इति,

'……विस्रमिव भाति समस्तं
भोगजातम्……………………' ॥ शि० स्तो० ११, श्लो० ६ ॥

इत्यादि च व्याहतमेव ॥ १० ॥

शम्भो शर्व शशाङ्कशेखर शिव त्र्यक्षाक्षमालाधर
श्रीमन्नुग्रकपाललाञ्छन लसद्भीमत्रिशूलायुध ।
कारुण्याम्बुनिधे त्रिलोकरचनाशीलोग्रशक्त्यात्मक
श्रीकण्ठाशु विनाशयाशुभभरानाधत्स्व सिद्धिं पराम् ॥ ११ ॥

हे शम्भो ! हे शर्व ! हे शिव ! हे त्रिनयन ! हे अक्षमालाधर ! हे श्रीमन् ! हे अत्युग्र स्वरूप ! हे खोपड़ियों के चिह्न वाले ! हे चमत्कारिन् ! हे भीमकठोर ! हे त्रिशूल को धारण करने वाले देव ! हे करुणासागर ! हे त्रिभुवन के निर्माता ! हे उग्र ! हे शक्तिस्वरूप श्रीकण्ठ ! मेरे अशुभ भेदोल्लासों को अविलम्ब ही जला दीजिये और सर्वोत्कृष्ट परम अद्वयानन्दसाररूपी सिद्धि प्रदान कीजिये ॥ ११ ॥

उग्राणि—भीषणानि अशेषब्रह्मादिसम्बन्धीनि कपालानि लाञ्छनं यस्य । उग्राः—विश्वसंहर्त्र्यः शक्तयः आत्मा यस्य । अशुभभरान्—भेदोल्लासान् । परां—परमाद्वयानन्दसाराम् ॥ ११ ॥

तत्किं नाथ भवेन्न यत्र भगवान्निर्मातृतामश्नुते
भावः स्यात्किमु तस्य चेतनवतो नाशास्तियं शङ्करः ।
इत्थं ते परमेश्वराक्षतमहाशक्तेः सदा संश्रितः
संसारेऽत्र निरन्तराधिविधुरः क्लिश्याम्यहं केवलम् ॥१२॥

हे शरणागतवत्सल शिव ! हे महेश्वर ! वह कौन-सी वस्तु होगी जिसमें आप षड्विध ऐश्वर्यसम्पन्न परमात्मा निर्मातृता के रूप में व्याप्त नहीं रहते हैं ? तथा उस (सकल से ले कर मन्त्र-महेश्वरप्रमाता पर्यन्त) चेतन का वह कौन-सा तत्त्वभूतभाव भुवनादि हो सकता है जिसको आप शिव अनुशासन नहीं करते हैं ? अर्थात् भगवान् परमशिव ही सकल प्रमातृवर्ग का नियामक एवं प्रशासक हैं। इस प्रकार अनवच्छिन्न-शक्तिसम्पन्न आपकी शरणागत हुआ भी मैं इस संसार में सदैव आधि-व्याधियों से व्याकुल हो कर केवल कष्ट का ही अनुभव करता हूँ ॥ १२ ॥

तदिति—तत्त्वभूतभावभुवनादि, भावः—सत्ता, चेतनवतः—सकलादे-र्मन्त्रमहेश्वरान्तस्य आशास्तीति

'प्रवृत्तिर्भूतानामैश्वरी ।'

इति स्थित्या सर्वप्रमातृनियामकत्वरूपं शासितृत्वं भगवत एव। सदेति—न तु कदाचित्, निरन्तराधिविधुरत्वं—व्युत्थाने समावेशानासादनात्। अहं केवलम्—इत्यत्रायमभिप्रायः;—मायीया इयं देहादिप्रमातृता चेद्गलिता, तत्सर्वमिदं त्वन्मयमेवोच्यते। देहाद्यहन्तैवोन्मूलनीया वर्तते ॥ १२ ॥

यद्यप्यत्र वरप्रदोद्धततमाः पीडाजरामृत्यवः
एते वा क्षणमासतां बहुमतः शब्दादिरेवास्थिरः ।
तत्रापि स्पृहयामि सन्ततसुखाकाङ्क्षी चिरं स्थास्नवे
भोगास्वादयुतत्वदङ्घ्रिकमलध्यानाग्र्यजीवातवे ॥ १३ ॥

हे श्रेष्ठ वस्तु को देने वाले देव ! यद्यपि इस संसार में कष्ट देने वाले जन्म-जरा-मरणरूपी दुःख असह्य है, तो भी इन्हें कुछ क्षण रहने दीजिये, किन्तु विश्व का अभिलषित बहुमान्य शब्दादि विषय तो क्षणभंगुर है, फिर भी आत्मसुख का अभिलाषी मैं चिरकालपर्यन्त रहने वाले चिदानन्द रस चमत्कार से युक्त आपके चरण-कमलों के ध्यानपरायण हुआ जीवन्मुक्त की इच्छा करता हूँ ॥ १३ ॥

अत्रेति—संसारे। उद्धततमाः—असह्याः। क्षणमासतां—साम्प्रतं तिष्ठन्तु—इति लौकिक्युक्तिः। बहुमतः विश्वस्याभिलषितः सन्ततम्—अद्वयानन्दरूपं सुखमाकाङ्क्षति तच्छीलः चिरं स्थास्नवे—चिरमवस्थानशीलाय, जीवातवे—जीविताय, स्पृहयामि। कीदृशाय ? भोगास्वादयुतत्वदङ्घ्रिकमलध्यानाग्र्याय — परमानन्दचमत्कारयुक्तत्वन्मरीचिपद्मचिन्तनप्रधानाय। अत एव स्पृहणीयत्वम्॥ १३॥

हे नाथ प्रणतार्तिनाशनपटो श्रेयोनिधे धूर्जटे
दुःखैकायतनस्य जन्ममरणत्रस्तस्य मे साम्प्रतम्।
तच्चेष्टस्व यथा मनोज्ञविषयास्वादप्रदा उत्तमाः
जीवन्नेव समश्नुवेऽहमचलाः सिद्धीस्त्वदर्चापरः ॥ १४ ॥

हे दिनकिङ्कर शिव ! हे शरणागतों के दुःख को नष्ट करने में प्रवीण ! हे दयासागर ! हे धूर्जटे ! केवल दुःखसमूह का आश्रयस्थान, जन्म-मृत्यु से संग्रस्त हुए मेरे लिये सम्प्रति ऐसी चेष्टा कीजिये, जिससे कि मैं आपकी पूजा में संलग्न हो कर चिदानन्दरूपी मनोज्ञ विषयसुख के आस्वादन को देने वाले उत्तम तथा अचल स्वरूप प्रथनात्मक सिद्धियों को जीते हुए ही उपलब्ध करूँ॥ १४॥

मनोज्ञं—चिदानन्दसुन्दरं, विषयाणां—रूपादीनां चमत्कारास्वादं प्रददति यास्ताः, उत्तमा अचलाः सिद्धीरिति प्राग्वत्। जीवन्नेवेति—न तु देहपाते, अपि तु जीवदवस्थायामेव। समाविष्ट एवाहं त्वदर्चापर इति—त्वयि—चिदानन्दात्मनि विश्वार्पणपरः॥ १४॥

नमो मोहमहाध्वान्त-
ध्वंसनानन्यकर्मणे।
सर्वप्रकाशातिशय-
प्रकाशायेन्दुलक्ष्मणे ॥ १५ ॥

हे कल्याणकर शिव ! अज्ञानरूपी घनीभूत अन्धकार की निवृत्ति करने में अनन्यकर्मा—सदैव उद्यत रहने वाले सम्पूर्ण प्रकाश—सूर्य, चन्द्र एवं अग्नि से

अतिशय प्रकाश को धारण करने वाले चन्द्रशेखर आपके प्रति हम नमस्कार करते हैं ॥ १५ ॥

इति श्रीसर्वदर्शनाचार्यश्रीकृष्णानन्दसागरकृत-हिन्दीव्याख्या-स्तवरञ्जनी ।

महामोहध्वान्तस्य--मायातमसः ध्वंसने अनन्यकर्मा—सदोद्युक्तः, सर्वान्--अग्नीषोमसूर्यप्रकाशानतिशेते यस्तथाभूतः प्रकाशो यस्य, तस्मै। ध्वान्तध्वंसे — प्रकाशनव्यापारे चानुगुणमभिधानमिन्दुलक्ष्मणे इति शिवम् ॥ १५ ॥

इति श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितस्तोत्रावल्यामौत्सुक्यविश्वसितनाम्नि
एकादशस्तोत्रे श्रीक्षेमराजाचार्यविरचिता विवृतिः ॥ ११ ॥

अथ

द्वादशं स्तोत्रम्

सहकारि न किञ्चिदिष्यते
भवतो न प्रतिबन्धकं दृशि ।
भवतैव हि सर्वमाप्लुतं
कथमद्यापि तथापि नेक्षसे ।। १ ।।

हे परमात्मन् ! यद्यपि आपके चित्स्वरूप का दर्शन करने में चित्तशुद्धि आदि किसी साधन की अपेक्षा नहीं है और कोई प्रतिबन्धक भी नहीं है; क्योंकि यह सारा स्थावर-जङ्गमरूप विश्व आप परमात्मा से ओतप्रोत है। ऐसी स्थिति में फिर भी क्यों अद्यावधिपर्यन्त व्युत्थान दशा में आप दर्शन नहीं देते हों ? ।। १ ।।

भवतो दृषि—त्वत्प्रकाशने, मलपरिपाकादिकं सहकारि न किञ्चित्, नापि प्रतिबन्धकं किञ्चिदस्ति, यस्मात् सहकार्याद्यभिमतं त्वयैव व्याप्तं, तथापि कथमद्यापि—इयति व्युत्थाने नेक्षसे—न प्रकाशसेऽस्माकमित्यर्थः। भवतः—इति कर्मणि षष्ठी ।। १ ।।

अपि भावगणादपीन्द्रिय-
प्रचयादप्यवबोधमध्यतः ।
प्रभवन्तमपि स्वतः सदा
परिपश्येयमपोढविश्वकम् ।। २ ।।

हे करुणासागर देव ! घटादिक वस्तुवर्ग से भी, इन्द्रियसमूह से भी एवं अवबोध रूप तुर्यावस्था से भी स्वतः प्रादुर्भूत हुए चित्स्वरूप को मैं समस्त मायीय भेदप्रथा का तिरस्कार कर भलीभाँति व्युत्थानदशा में भी देखता रहूँ ।। २ ।।

भावेभ्यः, इन्द्रियेभ्यः, ज्ञानेभ्य आत्मनश्च सकाशात् त्वामेव प्रभुं नित्यं परितः—समन्तात् पश्येयम्। कथम्? अपोढविश्वक—तिरस्कृताशेषभेदं कृत्वा ॥ २ ॥

कथं ते जायेरन्कथमपि च ते दर्शनपथं
व्रजेयुः केनापि प्रकृतिमहताङ्केन खचिताः।
तथोत्थायोत्थाय स्थलजलतृणादेरखिलतः
पदार्थाद्यान्सृष्टिस्रवदमृतपूरैर्विकिरसि ॥ ३ ॥

हे परमशिव! जल, स्थल और तृण आदि सारी वेद्य-वस्तु से जिनका उद्धार कर सृष्टि से प्रवाहित हुई अमृतधारायें बरसाते हैं, वे भक्तजन किसी अद्वितीय परमार्थरूप स्वभाव के असाधारण चिद्रूप से प्रकाशित हो कर कैसे उत्पन्न होंगे? और कैसे वे वेद्यभाव में रह सकते हैं। इसलिये कि वे ज्ञातृरूप हैं और ज्ञाता ज्ञेय नहीं हो सकते? ॥ ३ ॥

अखिलतः पदार्थात् तथेति—अलौकिकेन प्रकारेण उत्थायोत्थायेति—तत्तद्वेद्यदशायां भेदं निमज्ज्य चिद्रूपतया स्फुरित्वा, यान् ज्ञानात्मकप्रसरदमृतोत्करैराच्छुरयासि, ते केनापि प्रकृतिमहता इति—नित्यविकसितरोमाञ्चितत्वादिना चिह्नेन प्रकाशिताः, न जन्मभाजो नापि लोकैः लक्ष्यन्ते। कथमिति—असंभावनायाम् ॥ ३ ॥

साक्षात्कृतभवद्रूपप्रसृतामृततर्पिताः ।
उन्मूलिततृषो मत्ता विचरन्ति यथारुचि ॥ ४ ॥

हे भगवन्! जो साक्षात्कार किये हुए आपके चित्स्वरूप से प्रसृत अमृतरस से तृप्ति का अनुभव कर लिये हैं; वस्तुतः उन लोगों ने तो तृष्णा को मूल से ही उखाड़ दिया है किसी भी प्रकार की ऐश्वर्यसम्बन्धी आकाङ्क्षा उनमें नहीं रह गयी है और वे अपने आत्मभाव में सदैव प्रसन्न रहते हैं। ऐसे आपके भक्तलोग इस संसार में स्वेच्छानुसार विचरण करते हैं अन्यलोग इच्छा के वशीभूत होकर परतन्त्रता के पास में बन्धे हुए हैं ॥ ४ ॥

अमृतम्—आनन्दः। उन्मूलिता—अपुनरुत्थानेन शमिता, तृट्—विभूत्यादिस्पृहा यैः। मत्ताः—हृष्टाः, स्वातन्त्र्येन विरहन्ति। अन्ये तु आकाङ्क्षामयाः परतन्त्रा एव ॥ ४ ॥

न तदा न सदा न चैकदे-
त्यपि सा यत्र न कालधीर्भवेत् ।
तदिदं भवदीयदर्शनं
न च नित्यं न च कथ्यतेऽन्यथा ॥ ५ ॥

हे कल्याणकर शिव ! सदैव नहीं और उस काम में भी नहीं एवं न एक बार हो, इस प्रकार की कालबुद्धि जिस काल में उत्पन्न नहीं हो सकती है, किन्तु ऐसा ही यह असामान्य काल-कलना से परे आपके स्वरूप का दर्शन है; क्योंकि यह आपका स्फुरणरूप ज्ञान न नित्य है और न अनित्य ही कहा जाता है ॥ ५ ॥

न तदेति, सदेति, एकदेति—परस्परप्रतियोगितया। एकदेति—अस्य प्रकारस्तदेति। इत्यपि—एवं प्रकारा अपि;—यदेति, इदानीमित्यादिका च यत्र न सा काचित् कालधीरकालकलित्वात् । तदिति—असामान्यम् । इदमिति—स्फुरद्रूपं ज्ञानं, त्वदीयं । न नित्यं कथ्यते नाप्यनित्यम्;—नित्यत्वानित्यत्वयोः परस्परप्रतियोगित्वात् सर्वात्मकसाक्षात्कारिणि रूपे व्यवहारानुपपत्तेः ॥ ५ ॥

त्वद्विलोकनसमुत्कचेतसो
योगसिद्धिरियती सदास्तु मे ।
यद्विशेयमभिसन्धिमात्रम-
स्त्वत्सुधासदनमर्चनाय ते ॥ ६ ॥

हे भगवन् ! आपके स्वरूप साक्षात्कार के लिये उत्कण्ठित चित्त मुझ दास को इतनी सी योगसम्बन्धी सिद्धि सदा मिले, जिससे मैं इच्छामात्र से आपकी अर्चना करने के लिये सुधासदन परमानन्द कैलासधाम पर पहुँच जाऊँ ॥ ६ ॥

इयती इति,—न तु परिमितफलोन्मुखी। अभिसंधिमात्रतः—इच्छामात्रात, त्वदीयं सुधासदनं—परमानन्दधाम। सदा विशेयं—त्वत्समाविष्टः स्यामित्यर्थः। अर्चनं प्राग्वत् ॥ ६ ॥

निर्विकल्पभवदीयदर्शन-
प्राप्तिफुल्लमनसां महात्मनाम् ।
उल्लसन्ति विमलानि हेलया
चेष्टितानि च वचांसि च स्फुटम् ॥ ७ ॥

हे विभो ! जिनके हृदय आपके निर्विकल्पस्वरूप दर्शन की प्राप्ति से प्रफुल्लित हो उठते हैं, ऐसे महान् पुरुषों का विमल—जगत् का समुद्धर करने में सक्षम चेष्टा और वचन सहजतया सुस्पष्ट प्रकाशित होते हैं । ७ ॥

कवलितविकल्पत्वदीयसाक्षात्कारप्राप्त्या विकसितमनसां भक्तिभाजां, विमलानीति— जगदुद्धरणक्षमाणि, हेलामात्रेण चरितानि वाक्यानि च, स्फुटं कृत्वा समुल्लसन्ति । यदागमः

'दर्शनात्स्पर्शनाद्वापि विततान्द्भवसागरात् ।
तारयिष्यन्ति वीरेन्द्राः कुलाचारप्रतिष्ठिताः ॥'

इति ॥ ७ ।

भगवन्भवदीयपादयो-
र्निवसन्नन्तर एव निर्भयः ।
भवभूमिषु तासु तास्वहं
प्रभुमर्चेयमनर्गलक्रियः ॥ ८ ॥

हे षड्विध ऐश्वर्यसम्पन्न शिव ! भवदीय ज्ञान-क्रिया रूपी चरणद्वय के मध्य में रहता हुआ मैं उन-उन भौतिक भूमिकाओं में भय रहित बिना किसी रुकावट स्वतन्त्र हो कर परम शिव की अर्चना करूँ ॥ ८ ॥

पादयोः—ज्ञानक्रियाशक्त्योः, मध्य एव निवसन्, अत एवाहं तासु तास्विति— अतिविततासु, भवभूमिषु निर्भयः सन्, अनियन्त्रितचेष्टितः सर्वदशासु प्राग्वत्पूजापरः स्याम् ॥ ८ ॥

भवदङ्घ्रिसरोरुहोदरे परिलीनो गलितापरैषणः ।
अतिमात्रमधूपयोगतः परितृप्तो विचरेयमिच्छया ॥ ९ ॥

हे प्रभो ! आपके पाद-पद्मों के मध्य में भली प्रकार समाहित्त होता हुआ, अन्य लौकिक इच्छाओं से उपरामभाव को प्राप्त होनेवाला मैं अत्यन्त आनन्दरस के उपभोग से परितृप्त हो कर स्वेच्छापूर्वक विचरण करता रहूँ ॥ ९ ॥

अङ्घ्रिसरोरुहोदरं प्राग्वत् । तत्र परितः—समन्ताल्लीनः—श्लिष्टः सन् इच्छया विचरेयं—पदात्पदं तदाक्रान्तिभाग्भवेयम् । कीदृशः—गलिताः—शान्ता अपराः—त्वत्मरीच्यश्लेषाभिलाषव्यतिरिक्ताः एषणा—आकांक्षा यस्य, तादृक् । यतोऽतिमात्रं—भृशं, मधुनः—आनन्दरसस्य उपयोगेन—आस्वादेन परितस्तृप्तः ॥ ९ ॥

यस्य दम्भादिव भवत्पूजासङ्कल्प उत्थितः ।
तस्याप्यवश्यमुदितं सन्निधानं तवोचितम् ॥ १० ॥

जिसके हृदय में निर्दैन्य एक भक्तियोग से आपकी पूजा करने का संकल्प दृढ हो गया हो, उस भक्त को भी आपकी समुचित सन्निधि निश्चित ही मिल जाती है ॥ १० ॥

यस्येति—आर्तादेः । दम्भादिव—न तु नित्यैकभक्तियोगेन । सङ्कल्प इति—विकल्पमात्रम् । अत्रैकवारावलेपमात्रसम्पन्नलिंगार्चापरिरक्षित-सकलनरकपातत्रिलोकीजनो दृष्टान्तः । उचितामिति—तावन्मात्रार्थिता परिपूर्तिक्षमम् ॥ १० ॥

भगवन्नितरानपेक्षिणा
नितरामेकरसेन चेतसा ।
सुलभं सकलोपशायिनं
प्रभुमातृप्ति पिबेयमस्मि किम् ॥ ११ ॥

हे परमशिव ! क्या मैं किसी अन्य वस्तु का अनपेक्षी केवल चित्स्वरूप समावेशरूपी भक्ति में ही लगा हुआ अपना हृदय है इससे समस्त विश्व प्रपञ्च में व्यापक सहज रूप से सुलभ होनेवाले आप परमात्मा का तृप्तिपूर्वक पान करूँगा अर्थात् आप से प्रगाढ एकत्व का अनुभव कर सकूँगा ? ॥ ११ ॥

किमस्मि त्वां प्रभुं, सकलोपशायिन—सर्वगतम्, अत एव सुलभम्, आतृप्तिचेतसा पिबेयं—गाढत्वदैकात्म्यमनुभवेयम् । कीदृशेन चेतसा;—नितराम्—अतिशयेन एकत्रैव—त्वत्समावेशभक्तौ न तु क्वचिदपि फले, रसः अभिलाषो यस्य तेन । अनेन विशेषणेन प्रागुक्तश्लोकार्थवैपरीत्येन निर्व्याजभक्तिरुक्ता ।। ११ ।।

त्वया निराकृतं सर्वं हेयमेतत्तदेव तु ।
त्वन्मयं समुपादेयमित्ययं सारसंग्रहः ।। १२ ।।

हे परमेश्वर ! यह सारा वेद्यवर्ग आप चित्स्वरूप से दूर करने पर छोड़ने योग्य है । अर्थात् अर्थहीन है । इसी से वही वेद्यराशि आप से अभिन्नभाव रखने पर उपादेय संग्राह्य होती है । इस प्रकार समस्त सम्प्रदाय के मुख्य सिद्धान्त का यह संक्षिप्त सार है ।। १२ ।।

यत्किंचित्त्वदैक्यप्रत्यभिज्ञां विना हेयं, तदेव त्वन्मयं प्रत्यभिज्ञातं, सम्यगुपादेयम् । सारसंग्रह इति—सर्वसम्प्रदायसतत्त्वम् ।। १२ ।।

भवतोऽन्तरचारि-भावजातं
प्रभुवन्मुख्यतयैव पूजितं तत् ।
भवतो बहिरप्यभावमात्रा
कथमीशान भवेत्समर्च्यते वा ।। १३ ।।

हे ईशान ! आप परमशिव से अभेद रखने वाला जो यह पदार्थ समूह है वह तत्त्वज्ञ पुरुष से मुख्यरूप में प्रभु के समान अर्चनीय होता है । किन्तु आप से भिन्न असद्वस्तु आकाश कुसुम का अस्तित्व कैसे बन सकता है या वह कैसे पूजा जा सकता है ? ।। १३ ।।

भवतोऽन्तरचारित्वात् त्वदैक्येन स्थितं यद्भावजातं, तत् मुख्यतया—प्राधान्येनैव प्रभुरिति पूजितं भवति तत्त्वज्ञेन । भवतस्तु प्रकाशात्मनो बहिरप्यप्रकाशात्मनो बहिरास्तां भावः । अभावमात्रापि न भवति, कुतः पुनः समर्च्यते; सर्वस्य चित्प्रकाशात्मनैव सत्त्वादन्यथात्वचिन्त्यत्वात् । मात्राशब्दोऽतिशयोक्तिपरः ।

'अभावोऽपि बुद्धचमानो बोधात्मैव'।

इत्यादि हि प्रत्यभिज्ञायां निर्णीतमेव । अनेन भेदवादिनामर्चनानुपपत्तिः सूचिता ॥ १३ ॥

निःशब्दं निर्विकल्पं च निर्व्याक्षेपमथानिशम् ।
क्षोभेऽप्यध्यक्षमीक्षेयं त्र्यक्ष त्वामेव सर्वतः ॥ १४ ॥

हे त्रिनयन ! मैं ग्राह्य-ग्राहक अवस्था में भी निःशब्द—शब्दबल से अतीत प्रशान्त निर्विकल्पस्वरूप और अपरोक्ष स्वरूप परम शिव को ही सदा सब प्रकार से देखता रहूँ अर्थात् व्युत्थान एवं समाधिदशा में भी आपके चित्स्वरूप का सदैव दर्शन करता रहूँ ॥ १४ ॥

हे त्र्यक्ष ! क्षोभेऽपि—ग्राह्यग्राहकप्रसरेऽपि । अध्यक्षमविकल्पं कृत्वा त्वामेव—चित्प्रकाशैकरूपम्, अनिशं—सदा, निर्व्याक्षेपं—वीतविघ्नं कृत्वा सर्वत्र ईक्षेयम्—साक्षात्कुर्याम् । कीदृशं ? निःशब्दं—वैयाकरणाद्युक्त-शब्दब्रह्मविलक्षणम्

'मम योनिर्महद् ब्रह्म……' । भ० गी०, अ० १४, श्लो० ३ ॥

इति नीत्या भगवतः परब्रह्मणोऽप्युत्तमत्वात् । अत एव विकल्पेभ्यो—भावनादिरूपेभ्यो निष्क्रान्तम्—अनन्तचिन्मात्ररूपम् ॥ १४ ॥

प्रकटय निजधाम देव यस्मि-
स्त्वमसि सदा परमेश्वरीसमेतः ।
प्रभुचरणरजःसमानकक्ष्याः
किमविश्वासपदं भवन्ति भृत्याः ॥ १५ ॥

हे देवाधिदेव शङ्कर ! अपना संविद्रूप परमधाम मेरे लिए अनावृत्त कर दीजिये, जिसमें आप पराशक्ति समेत निवास करते हैं। आप परमात्मा के चरण युगल की रज के सदृश कक्षा वाले मेरे समान भृत्य क्या विश्वास के पात्र हो सकते हैं ? ॥ १५ ॥

निजधाम—चिद्रूपम् परमेश्वरी—परा भगवती । भृत्या इति—धार्याः पोष्याश्च । प्रभुचरणेत्यादि दासस्योचितैवोक्तिः । रजःसमानकक्ष्यत्वेन नित्यसंलग्नतामाह ॥ १५ ॥

दर्शनपथमुपयातोऽप्यपसरसि
कुतो ममेश भृत्यस्य।
क्षणमात्रकमिह न भवसि
कस्य न जन्तोर्दृशोर्विषयः ॥ १६ ॥

हे ईश ! मुझ किंकर से दृष्टिगोचर होने पर भी क्यों दूर हो जाते हों। इस प्रकार क्षणमात्र के लिए इस विश्व में किस जीवात्मा से दृष्टिगोचर नहीं होते हों ? अर्थात् सभी को किसी न किसी रूप में दर्शन देते ही हों ।। १६ ।।

दर्शनपथं—साक्षात्कारगोचरमपि प्राप्तो, मम भृत्यस्य—आश्वस्तस्य दासस्य, कुतोऽपसरसि—नैवापसरसि; त्वामवष्टभ्यैवाहं स्थित इति यावत्। ननु मां साक्षात्कृत्यैव किं न तुष्यसि ?—इत्यत आह;—कस्य जन्तोर्दृशो:—ज्ञानस्य, अज्ञातोऽपि क्षणमात्रम्

'अतिक्रुद्धः प्रहृष्टो वा······।' स्पन्द०, नि० १, श्लोक २२ ॥

इत्यादिभूमिषु विषयो न न भवसि—सर्वस्य ह्यवश्यं कदाचित्स्फुरसि। अहं तु अनुपचरितो भृत्यः क्षणमपि न त्वां त्यजामि। यदि वा, साक्षात्कृतोऽपि त्वं व्युत्थानावरोहणे किमिति मे भृत्यस्य—आश्वस्तस्यापि अपसरसि—इति योज्यम् ॥ १६ ॥

ऐक्यसंविदमृताच्छधारया
सन्ततप्रसृतया कदा विभो।
प्लावनात् परमभेदमानयं-
स्त्वां निजं च वपुराप्नुयां मुदम् ।। १७ ।।

हे विभो ! निरन्तर प्रसृत हुई ऐक्य संवित्—अद्वय दृष्टिरूपी परमानन्द सम्बन्धिनी अमृत की स्वच्छ शीतल धारा से आप्लावित हो कर आपके एवं अपने अभिन्न स्वरूप को ले जाता हुआ मैं कब परम सन्तोष प्राप्त करूंगा ? ।। १७ ।।

ऐक्यसंविद्—अद्वयदृष्टि:, सैवामृतस्य—परमानन्दस्य संबन्धिनी अच्छा—विश्वप्रतिबिम्बधारणक्षमा धारा, तया सन्ततम्—अविच्छेदेन

प्रसृतयां कृतं यत् प्लावनं—सर्वत आपूरणं, तस्मात्, त्वां स्वं च वपुः—संकुचिताभिमतं स्वरूपं, परम्—अतिशयेन अभेदम्—एकात्मतामानयन् कदा मुदं—परसन्तोषमाप्नुयाम् ॥ १७ ॥

अहमित्यमुतोऽवरुद्धलोका-
द्भवदीयात्प्रतिपत्तिसारतो मे ।
अणुमात्रकमेत्र विश्वनिष्ठं
घटतां येन भवेयमर्चिता ते ॥ १८ ॥

हे परमशिव ! इस अहं विमर्शात्मक मायीय भेदप्रथा से रहित आप के उत्कृष्टस्वरूप में से व्युत्थान दशा में प्रकाशात्मक वृत्ति थोड़ी-सी ही मुझे मिल जाय, जिससे मैं आपका अर्चिता हो सकूँ ॥ १८ ॥

विश्वनिष्ठमिति;—यद्यन्मम कुत्रचिद्भाति तत्र सर्वत्र अवरुद्धलोकं—स्वीकृताशेषनिर्भरम्, अहमिति यदेतत्त्वदीयं सर्वप्रतिपत्तीनां संबन्धि सारम्—उत्कृष्ट स्वरूपं, ततोऽणुमात्रकं—मृगमदकणवदल्पमपि किंचिन्मह्यं घटताम्—उपतिष्ठतां, येन घटितेन तत्तद्वेद्यग्रासीकारक्रमेण तवार्चिता भवामि। अणुमात्रकमिति अतिस्पृहयालुतयोक्तिः, न तु पूर्णाहन्ताया भागाः संभवन्ति ॥ १८ ॥

अपरिमितरूपमहं
तं तं भावं प्रतिक्षणं पश्यन् ।
त्वामेव विश्वरूपं
निजनाथं साधु पश्येयम् ॥ १९ ॥

हे परमेश्वर ! उस विश्वमय भाव-वस्तु को चिद्रूप के रूप में देखता हुआ भी मैं प्रतिक्षण अपरिमित स्वरूप वाले विश्वात्मा, अपने परमेश्वर आप को ही सत्य स्वरूप से उभय अवस्था में देखता रहूँ ॥ १९ ॥

तं तमिति—यं कंचित्। त्वामेवेति—तस्य प्रकाशमानत्वेन त्वद्रूपत्वात् विश्वरूपमिति—

"प्रदेशोऽपि ब्रह्मणः सार्वरूप्यम्··· ।"

इति स्थित्या पूर्णम्। साध्विति—निष्प्रयासं सत्यस्वरूपतया च ॥ १९ ॥

भवदङ्गगतं तमेव कस्मा-
न्न मनः पर्यटतीष्टमर्थमर्थम् ।
प्रकृतिक्षतिरस्ति नो तथास्य
मम चेच्छा परिपूर्यते परैव ॥ २० ॥

हे देव ! आप चिद्रूप से एकत्व प्राप्त हो कर उसी अभिलषित विषय समूह में मेरा चित्त क्यों नहीं भ्रमण करता है। इस प्रकार विषय सेवन से इस चित्त की प्रकृति की क्षति नहीं होती है और मेरी स्वरूपप्राप्तिविषयक उत्कण्ठा भी परिपूर्ण हो जाती है ॥ २० ॥

तमेवेति—यं यमभिलषितमर्थं मनः पर्यटति तं तं भवदङ्गगतं—चिन्मयत्वेन ज्ञातम्। अत एवेष्टम्—अभिलषितमर्थं किमिति न पर्यटति? तथा कुरु यथैवं पर्यटतीत्यर्थः। एवं सति अस्य न प्रकृतिक्षतिः काचित्, इच्छाव्याघाताभावात्। मम च परैव—चिद्घनस्वरूपलिप्सासारा इच्छा परिपूर्यते। अनेनैतदाह मनसि यथारुचि पर्यटत्यपि अहं पूर्णप्रथासार एव सदा स्यामिति ॥ २० ॥

शतशः किल ते तवानुभावा-
द्भगवन्केऽप्यमुनैव चक्षुषा ये ।
अपि हालिकचेष्टया चरन्तः
परिपश्यन्ति भवद्वपुः सदाग्रे ॥ २१ ॥

हे भगवन् ! निस्सन्देह सहस्रों में से कुछ ऐसे विलक्षण पुरुष होते हैं, जबकि इन लोगों का व्यवहार कृषक के समान हैं—फिर भी आपके प्रभाव से चिदात्मस्वरूप का सदा प्रत्यक्षरूप में इन्हीं नेत्रों से दर्शन करते हैं ॥ २१॥

ये हालिकचेष्टयापि चरन्तः, तवानुभावात्—त्वत्प्रयुक्तादनुभवनव्यापारात्, भवद्वपुः—त्वदीयं चित्स्वरूपम्, अमुनैव चक्षुषा—करणोन्मीलनदशाया मपि सदा, अग्रे परितः पश्यन्ति—समाविशन्ति, ते शतशः—सहस्रमध्यात् केऽपि—विरला अलौकिका इत्यर्थः ॥ २१ ॥

न सा मतिरुदेति या न भवति त्वदिच्छामयी
सदा शुभमथेतरद्भगवतैवमाचर्यते ।
अतोऽस्मि भवदात्मको भुवि यथा तथा सञ्चरन्
स्थितोऽनिशमबाधितत्वदमलाङ्घ्रिपूजोत्सवः ॥२२॥

हे परमशिव ! वह निर्मलबुद्धि उत्पन्न नहीं होती है, यह आपकी इच्छानुरूप भी नहीं होती है । इस प्रकार भद्र एवं अभद्र रूप से होनेवाला मेरा सारा व्यवहार आप शिव द्वारा ही संपादित होता है । अत एव मैं इस विश्व में उचित-अनुचित आचरण करता हुआ भी आप से ही सम्बन्धित हूँ । वस्तुतः मैं निरन्तर अप्रतिहतशक्ति-स्वभाव आप के विमल-चरण-कमलों का पूजा-महोत्सव मनाता रहूँ । २२ ॥

सर्वेषां ज्ञानानां प्रथमेन पादेन शिवभक्तिमयत्वं, द्वितीयेन व्यापाराणां भगवत्कृतत्वमुक्तम् यथा तथेति —गतसंकोचम् । अबाधितः—न केनाप्यपसा-सारितस्त्वन्मरीचिपूजाप्रमोदो यस्य ॥ २२ ॥

भवदीयगभीरभाषितेषु
प्रतिभा सम्यगुदेतु मे पुरोऽतः ।
तदनुष्ठितशक्तिरस्त्वतस्त—
द्भवदर्चाव्यसनं च निर्विरामम् ॥ २३ ॥

हे शरणद ! सब से पहले मेरी बुद्धि नव-नवोल्लेखिनी प्रज्ञा शास्त्रप्रतिपादित गूढरहस्यपूर्ण वाक्यों को समझने में सक्षम हो जाय । अनन्तर उसके अनुसार कार्य करने की शक्ति भी आ जाय और फिर आपकी समावेशरूपी पूजा करने की वह अलौकिक भावना मुझ में सदैव उदित रहे ॥ २३ ॥

गभीरभाषितेष्विति—आमुख्ये भेदार्थत्वेन भासमानेष्वपि गर्भीकृत-रहस्यार्थेषु वाक्येषु तावकेषु, मम पुरः—पूर्वं, प्रतिभा—नवनवोल्लेखिनी प्रज्ञा, सम्यग्—अविपर्यस्तत्वेनोदेतु अतोऽप्यनन्तरं तत्सेवनसामर्थ्यमप्युदेतु, अतोऽपि—अनन्तरं तदिति—अलौकिकं निर्विरामं कृत्वा भवदर्चायां व्यसनमुदेतु । २३ ॥

व्यवहारपदेऽपि सर्वदा
प्रतिभात्वर्थकलाप एष माम् ।
भवतोऽवयवो यथा न तु
स्वत एवादरणीयतां गतः ॥ २४ ॥

हे परमात्मन् ! यह सांसारिक पदार्थवर्ग जिस प्रकार अद्वयदृष्टि से आप का अभिन्न अङ्ग है । वह सारा व्यवहारदशा में मुझे वैसा ही अवभासित हो । किन्तु स्वतः ही अर्थात मायीय भेदवाला होता हुआ भी उसका विषय सुखरूप से मुझे कदापि न प्रतिभासित हो मैं आप से अभिन्न हूँ इस भाव से ही उसका आदर करूँ ॥ २४ ॥

एषोऽर्थकलापः व्यवहारेऽपि, भवतः—चिन्मयस्य यथाऽवयवः—अङ्गकल्पोऽभेदेन स्थितस्तथा मां प्रतिभातु—मम प्रतिभासताम्, न पुनस्त्वन्मयमविदित्वा स्वत एव—सुखादिहेतुत्वेनादरणीयतां गतः ॥ २४ ॥

मनसि स्वरसेन यत्र तत्र
प्रचरत्यप्यहमस्य गोचरेषु ।
प्रसृतोऽप्यविलोल एव युष्म-
त्परिचर्याचतुरः सदा भवेयम् ॥ २५ ॥

हे सर्वान्तर्यामिन् ! मनोकल्पित इस जगत् में अपने चिदानन्दरस से तुच्छ-विषयभोगों में जहाँ-तहाँ घूमता हुआ भी मैं निश्चलभावपूर्वक सदा आप परमात्मा की परिचर्या-सेवा करने में कुशल बना रहूँ ॥ २५ ॥

यत्र तत्रेति—हेयादिविषयेषु । प्रसृतोऽपि—ग्रहणे प्रवृत्तोऽपि, अविलोलः—अलम्पटः । युष्मत्परिचर्या—त्वदर्चा, तत्र चतुर एव—कुशल एव सदा स्याम् । एवशब्दो भिन्नक्रमः ॥ २५ ॥

भगवन्भवदिच्छयैव दास-
स्तव जातोऽस्मि परस्य नात्र शक्तिः ।
कथमेष तथापि वक्त्रबिम्बं
तव पश्यामि न जातु चित्रमेतत् ॥ २६ ॥

हे भगवन् ! यद्यपि आप परमशिव की अप्रहितस्वातन्त्र्यशक्ति से ही मैं आप का अनन्यभक्त हो गया हूँ । इसमें किसी दूसरे का सामर्थ्य नहीं है, तथापि मैं व्युत्थानदशा में व्युत्थान अवस्था उचित देहादिप्रमातृरूप इस दिव्य पराशक्तिरूपी सुन्दर मुखमण्डल को क्यों उस दशा में कभी भी देख नहीं पाता हूँ । यह बड़ी आश्चर्यजनक बात है ॥ २६ ॥

भगवन् ! भवदिच्छयैवेति । एवकारेण शक्तिपातस्य स्वतन्त्रतामाह । तथापीति—एवमपि दास्ये लब्धेऽपि । वक्त्रबिम्बं—सुन्दरं परशक्तिमार्गम् । एष इति—व्युत्थानावस्थोचितदेहादिप्रमादरूपः । जातु, इति—कदाचित् व्युत्थाने न पश्यामि—नासादयामि ॥ २६ ॥

समुत्सुकास्त्वां प्रति ये भवन्तं
प्रत्यर्थरूपादवलोकयन्ति ।
तेषामहो किं तदुपस्थितं स्यात्
किं साधनं वा फलितं भवेत्तत् ॥ २७ ॥

जो भक्तलोग आप के प्रति अत्यन्त भक्तिरस से उत्कण्ठित हो कर आप के चित्स्वरूप को प्रत्येक वस्तु के रूप में देखते हैं । उन लोगों को भला वह कौन-सा साधन प्राप्त होगा अथवा वह कौन-सा फल पा जायेगा ॥ २७ ॥

सम्यगुत्सुकाः—भक्तिभरेणोत्कण्ठिताः । प्रत्यर्थरूपादिति—विषयं विषयमासाद्य । किं तदिति—तेनैवानुभाव्यं न वक्तुं शक्यं । किं तत्साधन-मिति—अस्माभिरसंभाव्यम् ॥ २७ ॥

भावा भावतया सन्तु भवद्भावेन मे भव ।
तथा न किञ्चिदप्यस्तु न किञ्चिद्भवतोऽन्यथा ॥ २८ ॥

हे भव ! आप की स्वातन्त्र्य-शक्ति के प्रभाव से ये भौतिक पदार्थ मुझे आपके अङ्गरूप ही प्रतीत होवें तथा जो कुछ वस्तु आप परमशिव से भिन्न हो कर भासती है तो वह कुछ अपनी सत्ता ही नहीं रखती है और वह मेरे लिये कुछ भी न हो ॥२८॥

ये भावा इत्यभिधीयन्ते, ते मम त्वन्मयत्वेन भावा—विद्यमाना भवन्तु । यच्च न किञ्चिदित्युच्यते तत् त्वन्मयतां विना न किञ्चिदप्यस्तु ॥२८॥

यन्न किञ्चिदपि तन्न किञ्चिद-
प्यस्तु किञ्चिदपि किञ्चिदेव मे ।
सर्वथा भवतु तावता भवान्
सर्वतो भवति लब्धपूजितः ॥ २९ ॥

हे प्रभो ! चित्स्वरूप से पृथक् कुछ भी नहीं है और वह मेरे लिये कुछ भी न हो एवं जो वस्तु शिवरूप से अभेद रखती है वह तो मेरे सब कुछ हो । ऐसी स्थिति में आप सभी जाग्रदादि अवस्थाओं में मुझ से पूजित हो जाते हैं ॥ २९ ॥

इति सर्वदर्शनाचार्य-कृष्णानन्दसागरकृत-हिन्दीव्याख्या-स्तवरञ्जनी ।

लोकेन न किञ्चिदपीति—यत्किञ्चिदनुपादेयतया कथ्यते, तन्मम न किञ्चित्—सर्वं भेदमयं न किञ्चद्भवतु । यत्तूपादेयतयाभिमतं किञ्चिदित्यभिधीयते, तन्मम किञ्चिदिति—असामान्यं स्वानुभवैकसाक्षिकं वस्तु सर्वथा अस्तु । यद्वा, यल्लोके किञ्चित्—चिद्घनं रूपं तदप्रत्यभिज्ञानात् न किञ्चित्त्वेन भाति । यत्तु भेदमयमवस्तु न किञ्चित्, तन्मायाव्यामोहात्किञ्चित्त्वेन स्फुरति । मम तु न किञ्चित् किञ्चिच्च न किञ्चिदस्तु—लौकिकवद्विपर्यासो मा भूदित्यर्थः । एतावता भवान्—चिद्रूपः सर्वत्र लब्धश्च पूजितश्च भवतीति शिवम् ॥ २९ ॥

इति श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितस्तोत्रावली रहस्यनिर्देशनाम्नि
द्वादशे स्तोत्रे श्रीक्षेमराजाचार्यकृता विवृतिः ॥ १२ ॥

अथ

त्रयोदशं स्तोत्रम्

अथ स्तोत्रकाररचितचारुरचनाविशिष्टं संग्रहस्तोत्रं व्याकुर्मः। तत्र तु या प्रयोगरूढिरिति संज्ञा पुस्तकेषु दृश्यते, सावान्तरैव। साक्षात्कारेण चिद्रूरवं समाविश्य व्युत्थाने बलवत्तत्संस्कारात्तमभिमुखीभाव्य प्रतिभातं वस्तु विज्ञातुमाह—

संग्रहेण सुखदुःखलक्षणं
मां प्रति स्थितमिदं शृणु प्रभो।
सौख्यमेष भवता समागमः
स्वामिना विरह एव दुःखिता॥ १॥

हे प्रभवनशील देव ! सुनो, साररूप में मुझे मिलने वाले सुख और दुःख का लक्षण-स्वरूप यह है कि आप परमशिव से मेरा अभिन्न समावेश ही सुख-आनन्द है और आप स्वामी से अवियुक्त रहना ही मेरे लिये दुःख है अर्थात् आप परमात्मा के चित्स्वरूप का अज्ञान ही मेरा दुःख है॥ १॥

हे प्रभो ! मां प्रति स्थितं—न त्वन्यस्य कस्यापि स्फुरितं संग्रहेण—संक्षेपेण सुखदुःखलक्षणं शृणु। प्रभो इत्यामन्त्रणम्, स्वात्मसमावेशक्रमेणैव परमेशितुः स्वसंमुखीकरणाय लौकिकपादशब्दान्तरहस्यमन्त्रपदवत्। तल्लक्षणमाह—भवता स्वामिना चिन्नाथेन, एष इति—साक्षात्कारेण स्फुरन् समागमः—समावेशैकध्यं यत्तत् सौख्यं—सुखं, स्वार्थे ष्यञ्, स एव सौख्यं, स च सौख्यमेव। उत्तरत्र स्थित एव शब्दस्तु इहाप्युभयथा योज्यः। प्रभुणा तु यो विरहः—प्रभुस्वरूपाप्रत्यभिज्ञानं, सैव दुःखिता॥ १॥

यत एवं, ततः

अन्तरप्यतितरामणीयसी
या त्वदप्रथनकालिकास्ति मे ।
तामपीश परिमृज्य सर्वतः
स्वं स्वरूपममलं प्रकाशय ॥ २ ॥

हे ईश ! आप के चिद्रूप को आवृत करनेवाले कालिका–अख्यातरूपी मलिनता यद्यपि अत्यन्त सूक्ष्म है तो भी वह मेरे हृदय में प्राणादिसंस्काररूप से विद्यमान रहती है, उसे शक्तिपात से सब प्रकार से निवृत्त कर अपने परमानन्दमय विमल स्वरूप को प्रकट कीजिये ॥ २ ॥

अपिर्भिन्नक्रमः, अतितरामणीयस्यापि या मम त्वदप्रथनकालिका—भवदख्यातिमलिनता, अन्तरिति—समावेशे प्राणादिसंस्काररूपाऽस्ति, तामपीति—बह्वी तावदसौ शक्तिपातात्प्रभृत्येव मे त्वया अपहस्तिता, अतिसूक्ष्मामपि तां परिमृज्य—उत्प्रोञ्छ्य, सर्वत इति—अन्तर्बहिश्च स्वं—चिन्मयं सर्वस्यात्मीयं स्वरूपं निर्मलं प्रकाशय—स्फारय ॥ २ ॥

एतदेव च मे परमभिलषितमित्याह—

तावके वपुषि विश्वनिर्भरे
चित्सुधारसमये निरत्यये ।
तिष्ठतः सततमर्चतः प्रभुं
जीवितं मृतमथान्यदस्तु मे ॥ ३ ॥

हे शिव ! आपके अविनाशी विश्वरूप से परिपूर्ण चिदानन्द चमत्कारमय सुधारस से भरे हुए स्वरूप में स्थित हो कर निरन्तर आप प्रभु की पूजा करने में तत्पर रहूँ । मैं जीवित या अजीवित रहूँ अथवा मेरा कुछ भी हो ॥ ३ ॥

यःप्रकाशते, तत्प्रकाशरूपमेव सत् प्रकाशितुमर्हति,—प्रकाशस्य च देशकालादिकं प्रकाशमानत्वात् तत्स्वरूपमेव सद्भेदकं नोपपद्यते इत्ययत्नसिद्धं विश्वरूपत्वम् । चिदाह्लादात्मनः स्वरूपे निरत्यये अविनाशिनि तिष्ठन्नेवार्चासमर्थः, अर्चन्नेव च स्थातुं क्षमः, इति हेतौ शतारौ तौ च नित्यप्रवृत्ततां

व्यङ्क्तः । स्थितिस्तत्तद्भूमिलाभः । अर्चा—तदेकपरामर्शव्यग्रत्वम् । एवमुत्तरत्र । अन्यदित्यनेन चिद्रूपतास्थितिबहुमानेन अत्रस्थविषयमनादरं ध्वनति । ३ ॥

ननु जाग्रदादिभूमयः अभिमानमय्यः । ताः किमितीष्यन्ते ? इत्याशङ्क्य, त्वत्स्वरूपेऽवस्थितस्याभिमानोऽपि अलौकिकचमत्कारयुक्तत्वाद्युक्त एव, इतरथा तु निरभिमानतापि न काचित्, इति वक्तुमाह—

ईश्वरोऽहमहमेव रूपवान्
पण्डितोऽस्मि सुभगोऽस्मि कोऽपरः ।
मत्समोऽस्ति जगतीति शोभते
मानिता त्वदनुरागिणः परम् ॥ ४ ॥

हे अहंविमर्शकारिन् देव ! मैं ईश्वर-सर्वतन्त्र स्वतन्त्र हूँ, मैं ही रूपवान्-सुन्दर हूँ, मैं ही पण्डित-तत्त्ववेता पुरुष हूँ, मैं ही सौभाग्यशाली-परमानन्दरस से परिपूर्ण होने के कारण सब का स्पृहणीय हूँ, अधिक क्या कहूँ, इस विश्व में मेरे समान दूसरा कौन हो सकता है ? ऐसी स्वाभिमान की भावना आप के चित्समावेश में स्थित रहनेवाले भक्त को ही शोभा देती है ॥ ४ ॥

त्वदनुरागिणः—त्वत्समावेशेन प्राप्तत्वदैक्यस्य । परमिति—तस्यैव न तु ब्रह्मादेरपि । ईश्वरः—सर्वत्र स्वतन्त्रोऽहम् । अहमेव च रूपवान्—चिदात्मना प्रशस्तेन स्वरूपेण युक्तः । पण्डा—सम्यक्तत्त्वदर्शिनी प्रज्ञा सञ्जाता यस्य सोऽस्मि । सुभगः—परमानन्दरसोल्बणत्वेन सर्वस्य स्पृहणीयोऽस्मि । किं बहुना, मत्समः कोऽपरोऽस्ति न कश्चित्;—मयैव चिदानन्दात्मना विश्वस्यात्मसात्कारात् । इति—ईदृशी, मानिता—साभिमानित्वं शोभते—दीप्यते । अन्यथा पुनर्बोधाद्यभिमता सङ्कोचवती अविकल्पितापि मलिनैव,—

'स्वसोपानपदारूढ्या भर्तुः स्यादन्तिके स्थितिः ।
इतरस्तु विकल्पानां वैमुख्याबद्धाह्यभूमिगः ॥'

इति । ४ ॥

त्वदनुरागिणो यत एवं मानितापि शोभते ततः—

देवदेव भवदद्वयामृता-
ख्यातिसंहरणलब्धजन्मना ।
तद्यथास्थितपदार्थसंविदा
मां कुरुष्व चरणार्चनोचितम् ॥ ५ ॥

हे देवाधिदेव ! आप के चिदानन्दरूपी अद्वय सुधा से अज्ञानता की निवृत्ति हो जाने पर जो आत्मज्योति का प्रकाश उत्पन्न होता है । इस प्रकार अपने चिद्रूप में अभिन्नतया रहने वाली वस्तुओं का ज्ञानपूर्वक चरण-कमलों की सेवा करने के योग्य मुझ किंकर को बना दीजिये ॥ ५ ॥

हे देवदेव—अशेषाधिपते ! भवदद्वयामृताख्यातेः—त्वदैक्यानन्दाप्रथायाः संहरणेन लब्धं जन्म यया तया यथास्थितानां—चिदेकात्मनां पदार्थानां संविदा मां स्वमरीच्यर्चोचितं कुरु । तच्छब्दः पूर्वश्लोकापेक्षया हेतौ ॥ ५ ॥

कीदृशी असावर्चा यदुचितं त्वां करोमि ? इति भगवदुक्तिं सम्भावयन्नाह—

ध्यायते तदनु दृश्यते ततः
स्पृश्यते च परमेश्वरः स्वयम् ।
यत्र पूजनमहोत्सवः स मे
सर्वदास्तु भवतोऽनुभावतः ॥ ६ ॥

हे देव ! जिस आनन्दमहोत्सव में परमेश्वर का स्वतः ही ध्यान किया जाता है । इसके अनन्तर वह समावेश दशा में प्रकाशित हो जाता है और फिर प्रगाढ आलिङ्गन से एकत्व को प्राप्त किया जाता है । वही आप की पूजा का महोत्सव मुझे सदैव प्राप्त होता रहे ॥ ६ ॥

'उच्चाररहितं वस्तु चेतसैव विचिन्तयन् ।' मा० वि०, अ० २, श्लो० २२॥

इति स्थित्या ध्यायते । तदनु दृश्यते—समावेशात्प्रकाशते । ततोऽपि स्पृश्यते—गाढगाढसमाश्लेषेणैकीक्रियते । स्वयमिति—न तु उच्चार-

करणादिपारतन्त्र्येण स्वयं चानुपचितेन चिन्मयेन वपुषा अनन्याकारविशेषेण। यत्रेति—पूजनमहोत्सवे। महोत्सवशब्देनात्यन्तमुपादेयतामस्य वदन्नात्मनस्तदासक्त्या प्रमोदनिर्भरतां ध्वनति। अनुभावत इति—ममानुभवतस्त्वदीयानुभावकव्यापारात् ॥ ६ ॥

एतदेव श्लाघमान आह—

यद्यथास्थितपदार्थदर्शनं
युष्मदर्चनमहोत्सवश्च यः।
युग्ममेतदितरेतराश्रयं
भक्तिशालिषु सदा विजृम्भते ॥ ७ ॥

हे उमेश! जो वस्तु जिस रूप में स्थित हो कर आप चिद्रूप से अभिन्न रहती है और जो आपकी पूजा का महोत्सव है, ये दोनों परस्पर एक दूसरे पर आधारित हैं इन दोनों बातों का भक्तजनों में सदा विकास होता है ॥ ७ ॥

यथास्थितानां चिदात्मनां पदार्थानां दर्शनं—विज्ञानं विना न त्वदद्वयपूजामहोत्सवः, तं च विना न यथास्थितवस्तुज्ञानम्,—इतीदं द्वयमितरेतराश्रयं भक्तिशालिषु सदा विजृम्भते, त्वयैवास्योभयस्य युगपत्प्रकाशनात् ॥ ७ ॥

स्फुरदुपायपुरःसरमेतदाशंसापर आह—

तत्तदिन्द्रियमुखेन सन्ततं
युष्मदर्चनरसायनासवम्।
सर्वभावचषकेषु पूरिते-
ष्वापिबन्नपि भवेयमुन्मदः ॥ ८ ॥

हे परमेश्वर! चिदैक्य अमृतरस से भरे हुए सारे पदार्थरूपी प्यालों में उस-उस इन्द्रियरूपी मुख से आप शिव की चित्परामर्शरूपी पूजा के रसायनरूपी मदिरा का निरन्तर पान करता हुआ मैं उन्मत्त हो जाऊँ ॥ ८ ॥

सर्वभावा एव चषकाणि—पानपात्राणि, तेषु चक्षुरादिमुखेन महार्थदृष्ट्या चिदैक्यामृतेन पूरितेषु—भृतेषु, तदाहरणक्रमेण तुर्यारोहरूपं युष्म-

त्पूजारसायनपानम् आ—समन्तात्पिबन् उगद्गतमदोऽपि नाम भवेयम्—एतत्प्रार्थये ॥ ८॥

प्रभुमेवार्थयते—

अन्यवेद्यमणुमात्रमस्ति न
स्वप्रकाशमखिलं विजृम्भते ।
यत्र नाथ भवतः पुरे स्थितिं
तत्र मे कुरु सदा तवार्चितुः ॥ ९ ॥

हे स्वामिन् ! जिस परमानन्दरूपी पुरी में आप चित्स्वरूप से व्यतिरिक्त अन्य वेद्य-वस्तु लेशभाग भी नहीं रहती है अपि तु यह सारा ग्राह्यग्राहकरूप जगत् स्वप्रकाश रूप में ही प्रस्फुरित रहता है। आप की इस चिदानन्दपुरी में आप की सेवा परायण हुए मुझ किंकर को सदा के लिये स्थान दीजिये ॥ ९ ॥

यत्र नाथ भवतः पुरे—पूरके चिदात्मनि रूपे व्यतिरिक्तस्य कस्य-चिदभावादेवान्यद्भिन्नं वेद्यम् अणुमात्रमपि नास्ति, अपि तु अखिलं—ग्राह्यग्राहकरूपं स्वप्रकाशमेव विजृम्भते, तत्र मे—त्वदर्चापरस्य सदाव-स्थितिं—गाढगाढसमावेशरूपां कुरु ॥ ९ ॥

एवमर्थितेऽपि जगतीप्सितमनाप्नुवन् खिन्न इवाह—

दासधाम्नि विनियोजितोऽप्यहं
स्वेच्छयैव परमेश्वर त्वया ।
दर्शनेन न किमस्मि पात्रितः
पादसंवहनकर्मणापि वा ॥ १० ॥

हे परमेश्वर ! आप की स्वातन्त्र्यशक्ति से ही मैं दास की परमपदवी पर नियुक्त हूँ, फिर भी क्या बात है कि मुझे आप अपने दर्शन अथवा ज्ञान-क्रियात्मक पाद-संवहन कर्म के लिये योग्य नहीं समझते हैं ॥ १० ॥

स्वेच्छयैव—न त्वन्यप्रेरणादिना; निरपेक्षो हि शक्तिपात इत्युक्तमेव। दर्शनेन—शाम्भवसमावेशात्मना परसाक्षात्कारानुप्रवेशनेन, पात्रितः—भाजनीकृतः। पादसंवहनकर्मणा—रुद्रशक्तिसमावेशाह्लादोदयेन। अनुरणनोक्त्या लौकिकेश्वरार्थः प्राग्वत्॥ १०॥

सोपालम्भमिव प्रभुमभिमुखयितुमाह—

शक्तिपातसमये विचारणं
प्राप्तमीश न करोषि कर्हिचित्।
अद्य मां प्रति किमागतं यतः
स्वप्रकाशनविधौ विलम्बसे॥ ११॥

हे ईश! शक्तिपात के समय आप द्वारा यह विचारणीय है कि मैं अनुग्रह का पात्र हूँ अथवा नहीं हूँ, किन्तु ऐसा आप कभी भी नहीं करते हैं। यद्यपि सम्प्रति मुझ पर अनुग्रहात्मक शक्तिपात करने में सम्पन्न है तो भी आप चित्प्रकाश का दर्शन देने में विलम्ब कर रहे हों॥ ११॥

प्राप्तमिति—उचितम्। ईशेत्यामन्त्रणं स्वतन्त्रशक्तिपातक्रमानुरूपम्। कर्हिचित्—कदाचित्। अद्येति—संपन्नेऽप्यनुग्रहात्मनि शक्तिपाते। किमागतमिति—क एष प्रकारः यच्चिदात्मकस्वात्मप्रकाशात्मनि विधौ—अवश्यकार्येऽपि विलम्बसे—अद्यापि कालक्षेपं करोषि; मा कृथाः॥ ११॥

पुनरपि भगवत्समावेशाशंसापर आह—

तत्र तत्र विषये बहिर्विभा-
त्यन्तरे च परमेश्वरीयुतम्।
त्वां जगत्त्रितयनिर्भरं सदा
लोकयेय निजपाणिपूजितम्॥ १२॥

हे परमशिव! नीलादि बाह्य एवं सुखादि आन्तर प्रकाशमान सभी वेद्यविषयों में पराशक्ति से युक्त त्रिलोकी से परिपूर्ण अपने हाथों से पूजन करता हुआ मैं सदैव आपका दर्शन करता रहूँ॥ १२॥

बहिरिति—बाह्ये नीलादौ, अन्तरे च—सुखादौ च, विभाति सति त्वां परमेश्वर्या परशक्त्या युतं—नित्यसम्बद्धं, प्राग्वज्जगत्त्रयेण विश्वेन निर्भरं लोकयेय—साक्षात्कुर्याम्। निजेन पाणिना—पश्चावर्तमध्यमध्यम-प्राणशक्त्युद्बोधनक्रमाहृतविश्वार्पणसमेधनेनार्चितम्। अत्रः पाणिः शक्तिः। यथोक्तमाम्नाये—

'हस्तः शक्तिः प्रकीर्तिता'।

इति ॥ १२ ॥

एतत्पूजोचितं नित्योदितसमावेशरूपमेव फलमाकाङ्क्षयन्नाह—

स्वामिसौधमभिसन्धिमात्रतो
निर्विबन्धमधिरुह्य सर्वदा।
स्यां प्रसादपरमामृतासवा—
पानकेलिपरिलब्धनिर्वृतिः ॥ १३ ॥

हे करुणाकर देव ! मैं अपनी इच्छानुसार ही आप परमात्मा का अतिस्पृहणीय सुधासमूहमय अत्यन्त ऊँचे शाक्तपद पर देहादिभूमि का तिरस्कार कर, बिना रोक टोक से पहुँच कर अनुग्रह-प्रसाद से सर्वोत्कृष्ट अमृतरूपी आसव आस्वादन की केलि-कला से सदैव चिदानन्द परिपूर्ण बना रहूँ ॥ १३ ॥

स्वामिनः सम्बन्धिनं सौधम्—अतिस्पृहणीयं सुधासमूहमयमत्युच्चैः शाक्तं पदम्, अभिसंधिमात्रत इति—उच्चारकरणाद्यनपेक्षम् इच्छामात्रेणैव, निर्विबन्धं कृत्वा अधिरुह्य—देहादिभूमिन्यग्भावेन स्वीकृत्य, प्राग्व्याख्यात-प्रसादपरमामृतासवापानक्रीडया परिलब्धनिर्वृतिः—आनन्दपरिपूर्णः सदा स्याम्। अनुरणनशक्त्या दृष्टान्तालङ्कारध्वनिना लौकिकेश्वरार्थः प्राग्वत् ॥ १३ ॥

प्रतिपादितपूजोपायमाह—

यत्समस्तसुभगार्थवस्तुषु
स्पर्शमात्रविधिना चमत्कृतिम्।
तां समर्पयति तेन ते वपुः
पूजयन्त्यचलभक्तिशालिनः ॥ १४ ॥

हे शङ्कर ! जो सुभग अर्थ-प्रयोजन वाली सभी वस्तुओं में संवित् स्पर्शविकल्प-रूप प्राथमिक आलोचनक्रम से ही दिव्य स्वात्म-चमत्कार समर्पित करती है। इसी से नव-नव समावेशरूपी अचलभक्ति से सुशोभित भक्तवृन्द आपके प्रकाशस्वरूप की पूजा करते हैं अर्थात् चिदानन्दस्वरूप में समाहित हो कर दिव्यभाव में निमग्न रहते हैं ॥ १४ ॥

मायाशक्त्या यद्यपि हेयोपादेयतांभाञ्जि तथापि वस्तुतश्चिन्मयत्वात् सुभगार्थानि—सुभगप्रयोजनान्येव समस्तानि वस्तूनि, तेषु विषयभूतेषु, यत्किंचिदिन्द्रियपथगतं तदीयरूपस्पर्शादि। स्पर्शमात्रविधिना—संवित्सम्पर्क-विकल्पेन संविद्व्यापारेण। तामिति—असामान्यां चमत्कृतिं सम्यग् अर्पयति—वितरति, तेन—यच्छब्दपरामृष्टेन वस्तुस्वरूपेण, ते वपुः—चिन्मयं स्वरूपम्, अचलभक्त्या—नवनवसमावेशेन शालमानाः, पूजयन्ति—तर्पणक्रमेण त्वय्येव विश्राम्यन्ति ॥ १४ ॥

ननु मलिनैरर्थैः कथं शुद्धस्वरूपभगवदर्चा ? इत्याशङ्क्य सर्वदशासु अर्थानां भगवत्स्वरूपतया शुद्धतां वक्तुमाह—

स्फारयस्यखिलमात्मना स्फुरन्
विश्वमामृशसि रूपमामृशन् ।
यत्स्वयं निजरसेन घूर्णसे
तत्समुल्लसति भावमण्डलम् ॥ १५ ॥

हे विश्वनाथ ! आप अपने चिद्रूप में स्फुरित रहते हुए समस्त विश्वप्रपञ्च को प्रकाशित करते हों और अपने चित्स्वरूप का आमर्शन करते हुए समस्त विश्व को चमत्कृत करते हों तथा जब अपनी इच्छा से चिदानन्दरस में समाविष्ट हो कर स्पन्दित होते हों तब सभी भाव-पदार्थ उल्लसित होते हैं अर्थात् चिद्रूपी भूमि में विकसित होने लगते हैं ॥ १५ ॥

आत्मना—चिन्मयेन, स्फुरन्—भासमानः, अखिलं—विश्वं स्फार-यसि—विकस्वरस्वात्मप्रथाच्छुरणेन फुल्लयसि। तथा स्वरूपमामृशन्—निजं स्वरूपं चमत्कुर्वन् निखिलं विश्वमामृशसि आस्वादनेन आनन्दघनं घटयसि। यश्च स्वयं निजेन—चिद्रसेन घूर्णसे—पूर्णत्वात्समुच्छलत्तया स्पन्दसे,

तद्भावमण्डलम्—अखिलं पदार्थजातं समुल्लसति—चिद्भूमावुन्मीलति। एवमनेन विश्वस्याभेदसाराः परदशोचिताः स्थितिसंहारसर्गाः ज्ञानेच्छा-क्रियाशक्तिपरिस्पन्दरूपाः क्रमेणोक्ताः। अक्रमेऽपि हि संवित्तत्त्वे व्यावृत्तिभेदेन सृष्टिस्थितिसंहारशक्त्यवियोगः सनातनतन्त्रेन वर्ण्यतापि, यदपेक्षयायं क्रमव्यवहारः। तथा च श्रीपूर्वशास्त्रेषूक्तम्—

'सव्यापाराधिपत्वेन तद्धीनप्रेरकत्वतः।
इच्छानिवृत्तेः स्वस्थत्वादभिन्नमपि पञ्चधा॥'
(मा० वि०, अ० २, श्लो० ३४)

इति। सृष्टिस्थितिसंहाराणां विपर्यस्तत्वेन प्रतिपादनं चिन्मयत्वेन अक्रमता-परमार्थप्रकाशनाय॥ १५॥

ननु श्रीपरमेश्वरभूभावभिन्नानामर्थानामस्तु सदा शुद्धत्वं, मायापदे तु भेदविघ्नव्याकुलिते कथमेतत्? इत्याशङ्क्य भेदविघ्नप्रसरक्षयमाह—

योऽविकल्पमिदमर्थमण्डलं
पश्यतीश निखिलं भवद्वपुः।
स्वात्मपक्षपरिपूरिते जग-
त्यस्य नित्यसुखिनः कुतो भयम्॥ १६॥

हे परमेश्वर! यह सारा पदार्थसमूह विकल्पशून्य शाक्तसमावेश क्रम से आप का ही स्वरूप देखने में आता है अर्थात् चिद्रूप का ही दर्शन होता है। यह सारा भावमण्डल दर्पण प्रदश में उन्मिलित प्रतिबिम्ब की भाँति प्रतीत होता है। इस प्रकार चिदैक्यभावना से परिपूर्ण हुए जगत में इस आनन्दघन पुरुष को किससे फिर भय होगा?॥ १६॥

हे ईश! इदमर्थमण्डलं—प्रमेयजातमविकल्पं कृत्वाहानादानादि-बुद्धिपरिहारेण श्रीभैरवीयमुद्रावीर्यस्थित्या यो योगिवरो भवद्वपुश्चिद्रूपमेव कृत्वा पश्यति—दर्पणोदरोन्मीलनप्रतिबिम्बवत् साक्षात्करोति, अस्य स्वात्मपक्षेण—चिदैक्येन परितः—समन्तात् पूरिते—स्वाभेदमापादिते जगति,

भेदविघ्नस्योन्मीलनात् नित्यसुखिनः—परमानन्दघनस्य कुतो भयं—न कुतश्चिदेव, इति युक्तमुक्तं प्राक्—

'तेन ते वपुः पूजयन्त्यचलभक्तिशालिनः ॥' (स्तो० १३, श्लो० १४)

इति ॥ १६ ॥

इमामेवाद्वयदृष्टिं प्रशंसन्नाह—

कण्ठकोणविनिविष्टमीश ते
कालकूटमपि मे महामृतम् ।
अप्युपात्तममृतं भवद्वपु-
र्भेदवृत्ति यदि रोचते न मे ॥ १७ ॥

हे ईश ! आपके कण्ठ के किसी एक देश में पड़ा हुआ यह कालकूट विष भी आप का ही अभिन्न अङ्ग है । अत एव मेरे लिये वह महान् अमृत है और अयत्न उपलब्ध हुआ अमृत भी यदि आप प्रकाशस्वरूप से भिन्न है तो वह मेरे लिये रुचि का विषय नहीं बन सकता है ॥ १७ ॥

कालकूटं—महाविषमपि ते कण्ठकोणविनिविष्टं—त्वदङ्गसङ्गतया स्थितं त्वदभेदेन प्रथमानं, मे महामृतं—परमव्याप्तिप्रदत्वात् । उक्तं हि—

'.......विषमप्यमृतायते ।' (शिवस्तो०, स्तो० २०, श्लो० १२)

इति । अमृतं तूपात्तमपि—लब्धमपि यदि भवद्वपुषो भेदवृत्ति—चिदद्वयदृशमस्पृशद्भाति, तदवास्तवत्वान्मह्यं न रोचते—नाभिलाषपदं ममेति यावत् ॥ १७ ॥

एवमद्वयसमावेशमात्मनि सदोदितत्वेनेप्सन्नाह—

त्वत्प्रलापमयरक्तगीतिका-
नित्ययुक्तवदनोपशोभितः ।
स्यामथापि भवदर्चनक्रिया-
प्रेयसीपरिगताशयः सदा ॥ १८ ॥

मैं आप परमात्मसम्बन्धी कथामृत्त से पूर्ण और भक्ति के कारण सुमधुर ललित गीतों के गान में नित्य संलग्न मुख से परम शोभा को प्राप्त करूँ और आपकी अर्चन-क्रियारूपी प्रेयसी-परमप्रिया से अङ्गीकृत किये हुए आशयवाला हो कर मैं सदैव बना रहूँ ॥ १८ ॥

समावेशवैवश्यादनभिसन्धानमुच्चरन्तीभिस्त्वत्प्रलापमयीभिर्भक्त्यनुरागव्यञ्जनाद्रवताभिर्मधुरसुन्दराभिर्गीतिकाभिर्नित्ययुक्तेन वदनेन उपशोभितः—अतिसुन्दररुचिः स्याम् । अथापीति—अपि च, व्याख्यातसतत्त्वया भवदर्चनक्रिययैव प्रेयस्या—परमवल्लभया, परिगतः स्वीकृतः आशयः—चित्तं यस्य, तस्याश्च परिगतः—सम्यग् ज्ञातः, आशयः—स्वरूपं येन, तथाभूतः सदा स्याम् ॥ १८ ॥

ननु च लब्धसमावेशचमत्कारोऽपि किमर्थं भूयो भूयः समावेशाकाङ्क्षापरोऽसि ? इति शङ्कित्वैवाह—

ईहितं न बत पारमेश्वरं
　　शक्यते गणयितुं तथा च मे ।
दत्तमप्यमृतनिर्भरं वपुः
　　स्वं न पातुमनुमन्यते तथा ॥ १९ ॥

बड़े आश्चर्य का विषय यह है कि परमेश्वर की लीला को समझना अत्यन्त कठिन-सा ही है । इसलिये कि चिदानन्दरूपी अमृतरस से परिपूर्ण अपने स्वरूप का आस्वादनार्थ देकर भी अमृतरस का पान करना नहीं मानते हैं ॥ १९ ॥

श्रीपरमेश्वरसम्बन्धीहितं—विलसितं, बत—आश्चर्यं, गणयितुं—कलयितुं न शक्यते । तथा च, मे—मह्यम्, अमृतनिर्भरम्—आनन्दघनं वपुः—स्वरूपं, पातुं—रसयितु दत्तमपि—प्रसादीकृतमपि, तथेति—यथारुचि निर्विरामं पातुं नानुमन्यते—नाङ्गीकरोति, पुनर्व्युत्थानभूमिमेव प्रेरयति । इत्यत इयमाकाङ्क्षेत्यर्थः ॥ १९ ॥

यत एवं ततः—

त्वामगाधमविकल्पमद्वयं
स्वं स्वरूपमखिलार्थघस्मरम् ।
आविशन्नहमुमेश सर्वदा
पूजयेयमभिसंस्तुवीय च ॥ २० ॥

हे उमाकान्त पराभट्टारिका स्वामिन् ! अपरिमित निर्विकल्प अद्वय अपने ज्ञानस्वरूप समस्त भेदात्मक वेद्य-वस्तु को निगल जाने वाले आप चिदात्मा में प्रवेश करता हुआ मैं सदैव आपकी पूजा करता रहूँ और अभेद परामर्शसारतया स्तुति करता रहूँ ॥ २० ॥

इति श्रीसर्वदर्शनाचार्यश्रीकृष्णानन्दसागरकृत-हिन्दीव्याख्या-स्तवरञ्जनी ।

अगाधम्—अपरिच्छेद्यम्, अधिकल्पं—चिद्रूपम्, अद्वयम्—अभेदसारं, स्वं—सर्वस्यात्मीयं स्वरूपम्, अखिलानां—षडध्वमयानामर्थानां घस्मरम्—अदनशीलं, त्वामाविशन्, हे उमेश—पराभट्टारिकास्वामिन्, अहं सदा पूजयेयं—

'..........सा पूजा ह्यादराल्लयः ॥' वि० भै०, श्लो० १४७॥

इति स्थित्या अर्चयेयम् । अभितः—समन्तात् सम्यगभेदपरामर्शसारतया स्तुवीय चेति शिवम् ॥ २० ॥

इति श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितस्तोत्रावली संग्रहस्तोत्रनामनि त्रयोदशे स्तोत्रे श्रीक्षेमराजाचार्यविरचिता विवृतिः ॥ १३ ॥

अथ

चतुर्दशं स्तोत्रम्

ॐ जयलक्ष्मीनिधानस्य निजस्य स्वामिनः पुरः ।
जयोद्‌घोषणपीयूषरसमास्वादये क्षणम् ॥ १ ॥

मैं सर्वोत्तम मोक्षरूपी लक्ष्मी के निधान-आश्रय अपने स्वामी का स्वरूपदर्शन होते ही जय-जय की मधुर उद्‌घोषणापूर्वक चिदानन्दरूपी अमृतरस का बारम्बार पान करता रहूँ ॥ १ ॥

इदमपि जयस्तोत्रं ग्रन्थकाराशयमेव। जयलक्ष्म्याः—सर्वोत्कर्षश्रियो निधानं —समुचितमास्पदं। पुर इति—साक्षात्कारसमनन्तरमेव, जयोद्‌घोषणमेवानन्दप्रदत्वात् पीयूषरसम्, आस्वादये—चमत्करोमि, क्षणं—मुहुर्मुहुः। क्षणशब्दश्चास्य आस्वादस्य सुलभतां ध्वनति ॥ १ ॥

जयैकरुद्रैकशिव महादेव महेश्वर ।
पार्वतीप्रणयिञ्शर्व सर्वगीर्वाणपूर्वज ॥ २ ॥

हे सर्वतन्त्र देव ! हे अद्वितीय परमशिव ! हे देवाधिदेव ! हे सर्वप्रकाशात्मक महेश्वर ! हे पराशक्ति के प्रिय ! हे शर्व ! हे सभी देवों के आद्यनाथ ! आप की सर्वत्र जय हो ॥ २ ॥

प्रथममामन्त्रणद्वयमद्वयसारताप्रथनाय

'एको रुद्रः·······।'

इति श्रुतिरस्ति। एकः शिवः—न तु भेदवादस्थित्या बहवः। पार्वती—परा शक्तिः। सर्वेषां गीर्वाणानां—देवानां पूर्वज—आद्य ॥ २ ॥

जय त्रैलोक्यनाथैकलाञ्छनालिकलोचन ।
जय पीतार्तलोकार्तिकालकूटाङ्ककन्धर ॥ ३ ॥

हे त्रिभुवन के ईश ! अलौकिक अद्वैतसूचक चित्त को मस्तक के ऊर्ध्व देश पर नेत्र धारण करनेवाले त्रिनयन आप की सर्वत्र जय-जय हो । हे देव, दानव एवं मानव आदि दुःखी जीवों के दुःख निवारणार्थ पिये गये कालकूट महाविष के चिह्न को कण्ठ प्रदेश में धारण करनेवाले नीलकण्ठ आप की सर्वत्र जय हो ॥ ३ ॥

त्रैलोक्यनाथत्वे एकम्—अद्वयसूचकमलौकिकं लाञ्छनमलिकलोचनं—ललाटनेत्रं यस्य; भगवद्व्यतिरेकेणान्यस्योर्ध्वमुखोर्ध्वलोचनानुन्मीलनात् । पीतमार्तलोकानां—सर्वेषां सुरासुराणामार्तिहेतुत्वात्तद्रूपं यत् कालकूटं—महाविषं, तदङ्का कन्धरा यस्य कालकूटमार्तिरूपतयोत्प्रेक्ष्यते । अथ च कालकूटगलत्वेन भगवतः सर्वसंसारार्तिहरत्वं सूच्यते ॥ ३ ॥

जय मूर्तत्रिशक्त्यात्मशितशूलोल्लसत्कर ।
जयेच्छामात्रसिद्धार्थपूजार्हचरणाम्बुज ॥ ४ ॥

हे इच्छा, ज्ञान एवं क्रियात्मक शक्तित्रय से युक्त मूर्त—शरीर को धारण करनेवाले, अत्यन्त तेजस्वी त्रिशूल से सुशोभित हाथवाले शिव आपकी जय हो । इच्छामात्र से ही संकल्पित मनोरथ को देनेवाले अत एव पूजनीय चरण-कमलों वाले भगवान् शङ्कर की जय हो ॥ ४ ॥

मूर्ताः तिस्रः—इच्छाज्ञानक्रियारूपाः शक्तयः, आत्मा यस्य, तथाभूतेन शितेन—संसारच्छेदकेन शूलेनोल्लसन् करः—पाणिर्यस्य । अनेन शक्तित्रयस्य भगवदेकाधीनत्वमुक्तम् । इच्छामात्रेण सिद्धोऽर्थः—प्रयोजनं याभ्यां सकाशात् तथाभूते, अत एव पूजार्हे प्राग्वच्चरणाम्बुजे यस्य ॥ ४ ॥

जय शोभाशतस्यन्दिलोकोत्तरवपुर्धर ।
जयैकजटिकाक्षीणगङ्गाकृत्यात्तभस्मक ॥ ५ ॥

अपरिमित प्रकाश, आह्लाद आदि से सुशोभित तथा लोकोत्तर स्वरूप को धारण करनेवाले आप की सर्वत्र जय-जयकार हो । अतीव लघुकाय-सी जय के मध्य भाग में जो छोटी-स गंगा की स्वरूप आकृति है उस भस्म आलेपन भाल वाले जटाधर, गंगाधर भस्मप्रिय भगवान् शिव की जय हो ॥ ५ ॥

शोभाः—प्रकाशाह्लादरुचयः वपुः—स्वरूपम् । अल्पैकजटा—एकजटिका, तत्र क्षीणा येयं गङ्गाकृतिस्तदेव आत्तं भस्म येन, तथाभूतं कं शिरो यस्य । भगवतः शिरसि भस्मास्तीत्याद्यमविगीतमेव ॥ ५ ॥

जय क्षीरोदपर्यस्तज्योत्स्नाच्छायानुलेपन ।
जयेश्वराङ्गसङ्गोत्थरत्नकान्ताहिमण्डन ॥ ६ ॥

क्षीरसागर पर बिखरी हुई धवल-ज्योत्स्ना की शीतल छाया ही अनुलेपन है जिसका, ऐसे श्वेतांशधर शिव की सर्वत्र जय-जयकार हो। आप सर्वेश्वर प्रभु के दिव्याङ्गों के सम्पर्क से समुत्पन्न रत्नों से सुशोभित बने हुए शेषनाग, वासुकि, तक्षक आदि सर्प ही जिसके आभूषण हैं, ऐसे नागधर शिव की जय हो ॥ ६ ॥

क्षीरोदे पर्यस्ता—प्रसृता यासौ ज्योत्स्ना—चन्द्रकांतिः, तच्छायं शुभ्रमनुलेपनं यस्य । अङ्गसङ्गोत्थैः रत्नैः कान्ताः—हृद्याः, अहयः—शेषवासुकिप्रभृतयो यस्य । ईश्वराङ्गसङ्गाद्भुजङ्गमानां रत्नप्राप्तिरिति ह्यागमः ॥ ६ ॥

जयाक्षयैकशीतांशुकलासदृशसंश्रय ।
जय गङ्गासदारब्धविश्वैश्वर्याभिषेचन ॥ ७ ॥

अक्षयरूपिणी अमा संज्ञक एक अद्वितीय चन्द्रकला के सदृश—अनुरूप भगवान् शशिशेखर ही आश्रय है, उस परमशिव की जय हो। भगवती पतितपावनी गङ्गा से विश्व के ऐश्वर्य के निमित्त अभिषेक जिसका किया जाता है, ऐसे गङ्गाधर शिव की जय हो ॥ ७ ॥

अक्षयायाः—अमानाम्न्याः एकस्याः शीतांशुकलायाः सदृशः—अनुरूपो भगवानेव संश्रयः, तस्याप्यक्षयैकरूपत्वात्। चन्द्रकलया हि भगवतः एतत्परमार्थतैव सूच्यते । गङ्गया सदा आरब्धं विश्वैश्वर्येऽभिषेचनं यस्य; तत्सूचिकैव ह्यसौ ॥ ७ ॥

जयाधराङ्गसंस्पर्शपावनीकृतगोकुल ।
जय भक्तिमदाबद्धगोष्ठीनियतसन्निधे ॥ ८ ॥

जिसने अपने चरण-कमलों के संस्पर्श से वृषभ कुल को पावन किया है ऐसे वृषभवाहन शिव की जय हो। जिसकी भक्तवृन्द से बन्धी हुई विचारगोष्ठी में सदा उपस्थिति देनेवाले भक्तवत्सल शिव की जय हो ॥ ८ ॥

अधराङ्ग—पादस्तत्स्पर्शेन पवित्रीकृतं गोकुलं येन भवता वृषभवाहनेन। यतो वृषभः पद्भ्यां स्पृष्टस्ततः सर्वत्र गोजातेः पवित्रत्वमविगीतम्। भक्तिमद्भिः आबद्धायां गोष्ठ्यां नियतः— अवश्यंभावी सन्निधिर्यस्य ॥ ८ ॥

जय स्वेच्छातपोवेशविप्रलम्भितबालिश ।
जय गौरीपरिष्वङ्गयोग्यसौभाग्यभाजन ॥ ९ ॥

अपनी इच्छा से तपस्या एवं उसके अनुरूप जय आदि वेशभूषा से पामर प्राणियों को धोखा देनेवाले जटिल शिव की जय हो। गौरी के आलिङ्गन के योग्य सौभाग्य के पात्र उमाकान्त गौरीशङ्कर परमशिव की सर्वत्र जय हो ॥ ९ ॥

स्वेच्छया—क्रीडारूपया कृतेन तपसा वेशेन च, विप्रलम्भिताः—भ्रामिताः बालिशा येन। क्रीडामात्रेण भगवता जटादि विधृत यत् तन्मूर्खाः ब्रह्मशिरश्छेदोत्थकिल्विषशुद्ध्यर्थमिति प्रतिपन्नाः, सिद्ध्यर्थमेतदित्यपरे, इदमेतद्भगवतः सत्यं रूपमिति परे। तच्चासत्। भगवतः स्वतन्त्रचित्परमार्थस्यैवंरूपत्वानुपपत्तेः। गौरी—परा शक्तिः, तत्परिष्वङ्गयोग्यस्य सौभाग्यस्य—सर्वस्पृहणीयत्वस्य भाजन ॥ ९ ॥

जय भक्तिरसार्द्रार्द्रभावोपायनलम्पट ।
जय भक्तिमदोद्दामभक्तवाङ्नृत्ततोषित ॥ १० ॥

भक्ति के रस से अत्यन्त आर्द्र हुए एवं भक्त के भावरूपी उपहार को ग्रहण करने के लिये उत्कण्ठित रहनेवाले भक्तवत्सल शिव की सर्वत्र जय हो। भक्ति के मद से उन्मत्त हुए भक्तजनों की स्तुति से एवं नृत्य से सदैव प्रसन्न होनेवाले नृत्यप्रिय नटराज की जय हो ॥ १० ॥

भक्तिरसेन आर्द्रार्द्रः—सरसो गलितो यो भावः—आशयः, स एवोपायनं—ढौकनिका, तत्र लम्पट—झटित्यात्मसात्कारिन्। भक्तिमदेनोद्दामाः—ऊर्जिता ये भक्ताः, तदीयेन वाङ्नृत्तेन—स्फूर्जत् स्तुतिमालाभिस्तोषित ॥ १० ॥

जय ब्रह्मादिदेवेशप्रभावप्रभवव्यय ।
जयलोकेश्वरश्रेणीशिरोविधृतशासन ॥ ११ ॥

ब्रह्मा, विष्णु आदि देवताओं के प्रभाव अर्थात् सृष्ट्यादि कार्य करने के सामर्थ्य को उत्पन्न और नष्ट करने वाले देवाधिदेव महादेव की जय हो। जिसकी इन्द्र आदि दस लोकपालों की श्रेणी में आज्ञा शिरोधार्य होती है, ऐसे परमेश्वर शिव की सर्वत्र जय-जयकार हो ॥ ११ ॥

ब्रह्मादिदेवेशानां यः प्रभावः—सृष्ट्यादिसामर्थ्यं, तस्य प्रभवव्ययौ—उत्पादनाशौ यतः। लोकेश्वरश्रेण्या—इन्द्रादिदशलोकपालमालया, शिरोभिः—मुकुटैर्विधृतं शासनम्—आज्ञा यस्य; परमेश्वराज्ञानुवर्तिभिरिन्द्रादिभिर्दीक्षादौ स्थीयते—इति शतशः आगमोक्तयः सन्ति ॥ ११ ॥

जय सर्वजगन्न्यस्तस्वमुद्राव्यक्तवैभव।
जयात्मदानपर्यन्तविश्वेश्वर महेश्वर ॥ १२ ॥

समस्त विश्व की वस्तुओं पर अङ्कित अपनी संवित्प्रकाशरूपी मुद्रा से अभिव्यक्त है विश्वव्यापी आधिपत्यरूपी ऐश्वर्य जिसका, ऐसे विभु परमशिव की जय हो। अपने भक्तों को त्रैलोक्य का आधिपत्य देनेवाले होने से विश्वनाथ है, इस प्रकार महान् ऐश्वर्य सम्पन्न भगवान् परमशिव की जय हो ॥ १२ ॥

सर्वत्र जगति न्यस्तया स्वमुद्रया—आनन्दसारज्ञानक्रियाशक्तिव्याप्तिमय्या षष्ठवक्त्ररूपया व्यक्तं वैभवं—व्यापकत्वं प्रभुत्वं च यस्य। यदागमः—

'न चक्राङ्का न वज्राङ्का दृश्यन्ते जन्तवः क्वचित्।
भगलिङ्गाङ्कितं विश्व तेन माहेश्वरं जगत् ॥'

इति। आस्तां तावद्ब्रह्मादीनां विभूत्यादिदानं त्वत्तः। सर्वस्य त्वमात्मानं—सत्तामपि ददासि; प्रकाशमयत्वत्स्वरूपं विना नीरूपत्वापत्तेः—इत्यात्मदानपर्यन्तं कृत्वा विश्वेश्वर। अत एवान्यस्यैवंरूपत्वाभावात् त्वं महेश्वरः ॥ १२ ॥

जय त्रैलोक्यसर्गेच्छावसरासद्द्वितीयक।
जयैश्वर्यभरोद्वाहदेवीमात्रसहायक ॥ १३ ॥

त्रिलोकी को उत्पन्न करने में अन्य किसी भी उपादान सामग्री की अपेक्षा के बिना ही सृजन करने में समर्थ सर्वशक्तिमान-परमशिव की जय हो। जबकि ऐश्वर्य के भार धारण करने में केवल पराशक्ति त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही सहयोगी के रूप में है ऐसे शिवशक्ति स्वरूप आप की सर्वत्र जय हो ॥ १३ ॥

त्रैलोक्यसर्गेच्छावसरे असन् द्वितीयः—उपादानसहकार्यात्मा अपेक्षणीयो यस्य। द्वितीयश्चेन्नास्ति कथं शक्तिः शक्तिमांश्चेत्युद्घोष्यते ? इत्याह ऐश्वर्यभरोद्वाहे—

'स्वेच्छावभासिताशेषलोकयात्रात्मने नमः।'

इति नयेन देवीमात्रं निजसामर्थ्यात्मा पराशक्तिरेव सहायो यस्य। ऐश्वर्यं—पञ्चविधकृत्यकारित्वम् ॥ १३ ॥

जयाक्रमसमाक्रान्तसमस्तभुवनत्रय ।
जयाविगीतमाबालगीयमानेश्वरध्वने ॥ १४ ॥

जिसने क्रमबद्ध नहीं अपि तु एक ही क्षण में समस्त त्रिलोकी को व्याप्त कर लिया है ऐसे सर्वव्यापक महादेव की जय हो। जिसका निर्विवादपूर्वक आबाल वृद्ध सभी लोगों के द्वारा ईश्वर संज्ञक नाद विमर्श सदा गाया जाता है ऐसे सकलशास्त्र के आशय स्वरूप परमशिव की जय हो।

यद्यपि वामन अवतार विष्णु ने क्रमशः पृथिवी, द्युलोक आदि भुवनत्रय को अपने पाद से व्याप्त किया था, किन्तु आपने तो एक साथ ही जाग्रदादि अवस्थात्रय को अपने चिद्रूप से व्याप्त कर लिया है, अतः सर्वात्मा शिव की जय हो ॥ १४ ॥

सकृद्विभापत्वाद्युगपत्सदा सम्यगाक्रान्तं—व्याप्तं समस्तं निरवशेषं प्राग्वद्भवनत्रयं येन। विष्णुना क्रमाभ्यां भूर्भुवःस्वराक्रान्तमधिष्ठित, भगवता त्वकममेव भवाभवातिभवरूपं भुवनत्रयं व्याप्तम्—इति व्यतिरेकध्वनिः। अविगीतम्—अविप्रतिपत्ति कृत्वा आबालं गीयमान ईश्वर इति ध्वनि—नादामर्शो यस्य ॥ १४ ॥

जयानुकम्पादिगुणानपेक्षसहजोन्नते ।
जय भीष्ममहामृत्युघटनापूर्वभैरव ॥ १५ ॥

जिस परमात्मा की अनुकम्पा-कृपा आदि गुणसमूह की अपेक्षा न करनेवाली सहज महिमा है, ऐसे महाप्रभु शिव की जय हो। समस्त विश्व को भयभीत करनेवाले महाकाल का भी ग्रसन करने के लिये अत्यन्त भीषण भैरवस्वरूप मृत्युञ्जय शिव की सर्वत्र जय हो ॥ १५ ॥

अनुकम्पादिगुणानपेक्षा सहजा—स्वाभाविकी अविच्छिन्ना उन्नतिः—माहात्म्यं यस्य। अन्येषां तु—

'यो हि यस्माद्गुणोत्कृष्टः स तस्मादूर्ध्वमुच्यते।'

मा० वि० तं०, अ० २, श्लो ६०॥

इत्याम्नायस्थित्या अपूर्वैवोन्नतिः। भीष्मस्य—सकलजगत्कम्पकारिणो महामृत्यो घटने—स्वरूपचर्व्वात्मनि ग्रसने अपूर्वोऽपि भैरवः—भीषणीयस्यापि भीषणीयः, भीरूणामयम्—इति तद्धितेन मृत्युभीतानां हृदि स्फुरन्नभयप्रदश्च॥ १५॥

जय विश्वक्षयोच्चण्डक्रियानिष्परिपन्थिक।
जय श्रेयःशतगुणानुगनामानुकीर्तन॥ १६॥

संसार का संहार करने में अत्यन्त उग्ररूप निष्कन्टक विश्वहर्ता आप शिव की जय हो। जिसके पीछे-पीछे सहस्र शुभ दिव्यगुण अनुगमन करते हैं, ऐसे दिव्य नाम का कीर्तन करनेवाला भक्त महान् गुणसमूह से युक्त हो जाता है, ऐसे विश्वात्मा शिव की सर्वत्र जय हो॥ १६॥

विश्वक्षये—संहारे उच्चण्डायां क्रियायां निर्गतः परिपन्थिकः—निरोद्धा यस्य। श्रेयांसः शतगुणा अनुगाः—पश्चाद्धावन्तो यस्य, तथाभूतं नामानुकीर्तनं यस्य॥ १६॥

जय हेलावितीर्णैतदमृताकरसागर।
जय विश्वक्षयाक्षेपिक्षणकोपाशुशुक्षणे॥ १७॥

जिस प्रभु ने सहज में ही अपने प्रियभक्त को अमृतमय क्षीरसागर प्रदान कर दिया है, ऐसे भूतभावन शिव की जय हो। जिसकी क्रोधरूपी अग्नि समस्त संसार का संहार करने में सक्षम है, ऐसे भीष्म विरूपाक्ष शिव की जय हो॥ १७॥

हेलया वितीर्णो भक्तेभ्यो दत्तः एतदिति—एष श्रेयःशतगुणानुगः अमृताकरसागरो येन, उपमन्यवे च क्षीरोदो वितीर्णः येन। विश्वक्षयाक्षेपो क्षणकोपाशुशुक्षणिः—क्षणिकोऽपि कोपाग्निर्यस्य॥ १७॥

जय मोहान्धकारान्धजीवलोकैकदीपक।
जय प्रसुप्तजगतीजागरूकाधिपूरुष॥ १८॥

आत्मज्ञान से शून्य मोह अन्धकार से अन्धे बने हुए सांसारिक अज्ञानी जीवों को ज्ञान-प्रकाश देने के निमित्त एक विलक्षण परमार्थ प्रकाशरूपी दीपक के रूप में जगद्गुरु शिव की सर्वत्र विजय हो। अपने स्वरूप अज्ञान से गहन प्रसुप्त दशा में सोये हुए संसार में सदा प्रबुद्ध है, अत एव अधिष्ठातृस्वरूप शिव की जय हो ॥ १८ ॥

मोहान्धकारेण—अख्यातितिमिरेण अन्धः — उपसंहृताभेददृष्टियों जीवलोकस्तस्यैकः—अद्वितीयो दीपः—परमार्थप्रकाशकः। प्रकर्षेण सुप्तायां—मायाप्रस्वापजडीकृतायां जगत्यां विश्वत्र जागरूकः—नित्यप्रबुद्धोऽत एव अधिपूरुषः—अधिष्ठातृस्वरूपः ॥ १८ ॥

जय देहाद्रिकुञ्जान्तर्निकूजज्जीवजीवक ।
जय सन्मानसव्योमविलासिवरसारस ॥ १९ ॥

देहरूपी पर्वत की कुञ्ज गुफा के अन्तराल में से अपनी मधुरवाणी बोलने वाले जीवात्मा को जीवन प्रदान कर्ता शिव ! आप की सर्वत्र जय है। सज्जन पुरुषों के चित्तरूपी गगन में सुखपूर्वक निवास करने वाले सर्वोत्तम राजहंस ! आप शिव की जय हो ॥ १९ ॥

देह एव जडत्वादद्रिकुञ्जं—पर्वतदरीगृहं तत्र निकूजतः—उत्क्रन्दतो जीवान्—प्राणिनो जीवयति; जीवतां लम्भयति यः पर्वतगुहायां च निकूजन्तो जीवजीवाख्याः पक्षिणो भवन्ति—इत्यनुरणनशक्त्याक्षिप्तोऽर्थोऽपि। अपि च सतां—भक्तानां मानसं—चित्तमेव निर्मलत्वादिधर्मत्वाद्व्योम, तत्र विलसति तच्छीलः, वरसारसः—परमात्मा राजहंसश्च, मानसे सरसि शोभमानो व्योमचारी च भवति ॥ १९ ॥

जय जाम्बूनदोदग्रधातूद्भवगिरीश्वर ।
जय पापिषु निन्दोल्कापातनोत्पातचन्द्रमः ॥ २० ॥

स्वर्ण से परिपूर्ण एवं अनेक धातुओं के उत्पत्तिस्थान गिरि-राज शिव ! आप की सर्वत्र जय-जय हो। हे चन्द्रशेखर शिव ! आप चन्द्रवत् स्वभाव से ही आह्लाद प्रदायक हों, किन्तु अपने अज्ञान से प्रेरित हो कर शिवनिन्दा में प्रवृत्त हो जाता है तो उसके लिये आपत्ति का कारण हो जाते हैं ॥ २० ॥

जाम्बूनदं—कनकं, तेन उदग्रः—ऊर्जितो धातूद्भवश्च रसधातुसम्भूतो गिरीश्वरो मेरुर्यस्य । तथा चावधूतः—

'येनामलस्फुरिता……।'

इत्यादि । पापिषु—अतिविलयशक्तिगोचरेषु निन्दैव विषमदशाहेतुत्वादुल्का—विद्युत्, तत्पातने उत्पातचन्द्रमा इव—अशुभसूचक इन्दुरिव । भगवद्विलय-शक्तिपातेन हि पापिष्ठा भगवन्तं निन्दन्ति । इन्दुरूपेण नित्यमाह्लादहेतुत्वं सूच्यते ॥ २० ॥

जय कष्टतपःक्लिष्टमुनिदेवदुरासद ।
जय सर्वदशारूढभक्तिमल्लोकलोकित ॥ २१ ॥

हे परमात्मन् शिव ! अत्यन्त कष्ट सह कर तपस्या करने वाले दुःखाक्रान्त मुनिजनों तथा देवताओं के लिये दुष्प्राप्य हो । हे भक्तवत्सल देव ! जाग्रदादि सभी अवस्थाओं में आरुढ भक्ति करने वाले भक्तवृन्द को अपने चित्स्वरूप का सदैव दर्शन देते हों, अत एव आप की जय हो ॥ २१ ॥

कष्टतपःक्लिष्टत्वादेवागस्त्यब्रह्मादिभिर्दुःखेन आसाद्यते । उक्तं हि प्राक्—

'न योगो न तपो नार्चा……।' शि० स्तो०, स्तो० १, श्लो० १८ ॥

इत्यादि । भक्तिरेकैव तत्रोपायः,—इत्याह सर्वासु—जाग्रदादिदशासु आरूढेन प्राग्व्याख्यातेन भक्तिमल्लोकेन लोकित—साक्षात्कृत । २१ ॥

जय स्वसम्पत्प्रसरपात्रीकृतनिजाश्रित ।
जय प्रपन्नजनतालालनैकप्रयोजन ॥ २२ ॥

जिसने अपनी ज्ञानरूपी परमसम्पदा के विकास का भक्तों को पात्र बनाया है, ऐसे भक्तवत्सलदेव ! आप की सर्वत्र जय हो । जिसका एकमात्र लक्ष्य शरणागतों को शरण देना है, ऐसे शरणद चन्द्रशेखर शिव की जय हो ॥ २२ ॥

परमानन्दसारे स्वसंपत्प्रसरे पात्रीकृतः—तदास्वादनभाजनतां प्रापितः निजाश्रितः—भक्तजनो येन । लालनं—

'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्' । भ० गी०, अ० ६, श्लो० २३ ॥
इति स्थित्या योगक्षेमोद्वहः ॥ २२ ॥

जय सर्गस्थितिध्वंसकारणैकावदानक ।

जय भक्तिमदालोललीलोत्पलमहोत्सव ॥ २३ ॥

जिसका विश्व की उत्पत्ति, स्थिति एवं संहार करना ही एकमात्र उत्तम चरित-कार्य है, ऐसे विश्वनाथ ! शिव आप की सर्वत्र जय-जय होती रहे । जिसका समावेश उद्रेक से व्याप्त लीला-परिस्पन्द व्यवहार है, ऐसे आचार्यगुरु उत्पल प्रभु के महान् उत्सव परमात्मा शिव ! आप की सर्वत्र जय हो ॥ २३ ॥

सृष्ट्यादिकारणं

'सदा सृष्टिविनोदाय ......।' शि०, स्तो० २०, श्लो० ६ ॥

इति न्यायेन एकमेव अवदानत्—उत्तमं चरितं यस्य । भक्तिमदेन—समावेशोद्रेकेण आलोला—स्पृहणीया व्याप्ता च लीला—परिस्पन्दो यस्य, तथाभूतस्य उत्पलस्य—एतन्नाम्नः अस्मत्परमेष्ठिनो महोत्सवः ॥ २३ ॥

जय जयभाजन जय जितजन्म-

जरामरण जय जगज्ज्येष्ठ ।

जय जय जय जय जय जय जय

जय जय जय जय जय जय त्र्यक्ष ॥ २४ ॥

चिद्रूप होने से जय के पात्र सर्वेश्वर ! आपकी सर्वत्र जय हो । जन्म-जरा एवं मृत्यु के जितनेवाले मृत्युञ्जय शिव ! आपकी जय हो । अनादि होने के कारण विश्व के ज्येष्ठ-श्रेष्ठ ! आपकी जय हो, जय हो, जय हो । हे त्रिनयन ! आपकी सर्वत्र जय हो ।

इति श्रीसर्वदर्शनाचार्यश्रीकृष्णानन्दसागरकृत-हिन्दीव्याख्या-स्तवरञ्जनी ।

जयभाजनत्वं चिद्रूपत्वेन सर्वोत्तमत्वात् । स्वात्मनः चिद्रूपस्येश्वरस्य वस्तुतः सर्वोत्कर्षवृत्तेरपि स्वातन्त्र्येण विषयव्यग्रतावस्थायां गूहितात्मत्वात् पराङ्मुखस्येव सम्मुखीकरणात्मकप्रार्थनारूपो जयेति लोडर्थ इहाद्वयनय

एवोचितः, इत्याशयेनाप्युक्तं जयभाजनेति। द्वयनये तु भेदमयत्वादेवेश्वरो न सर्वोत्कर्षेण वर्तते, ततो जय—इत्याशीर्व्यर्थैव, अथापि वर्तेत किं परकृतया प्रार्थनया। विध्यादिश्च लोडर्थं ईश्वरविषयेऽनुचित एव, इति भेदनये जयेत्युदीरणमनुपपन्नमेव। जितानि जन्मजरामरणानि यमाश्रित्येत्यर्थः। जगज्ज्येष्ठत्वमनादित्वात्। भूयो भूयो जय जयेत्युद्घोषणमुद्घोषयितुर्भक्तिरसावेशवैवश्यं सूचयति। त्र्यक्षेत्यामन्त्रणं निःसामान्योत्कर्षशालिताप्रकाशनायेति शिवम् ॥ २४ ॥

इति श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितस्तोत्रावल्यां जयस्तोत्रनाम्नि चतुर्दशे स्तोत्रे श्रीक्षेमराजाचार्यविरचिता विवृतिः ॥ १४ ॥

अथ

पञ्चदशं स्तोत्रम्

त्रिमलक्षालिनो ग्रन्थाः सन्ति तत्पारगास्तथा ।
योगिनः पण्डिताः स्वस्थास्त्वद्भक्ता एव तत्त्वतः ॥ १ ॥

हे परमशिव ! आणव, मायीय एवं कार्म इन मलत्रय की निवृत्ति करने वाले शैवागमशास्त्रसम्बन्धी ग्रन्थ एवं उन सकलशास्त्रों के आद्यन्त पारंगत योगी और पण्डित लोग इस जगत् में बहुत-से मिलते हैं, किन्तु चिद्रूप समावेश का आनन्द लेने वाले आप के भक्त ही पारमार्थिक रूप से सुखी हैं ॥ १ ॥

त्रीन्—आणवमायीयकार्ममलान् क्षालयन्ति ये ते ज्ञानक्रियायोगचर्यापादनरूपाः, ग्रन्थाः—पारमेश्वराः । तथा तत्पारगाः—तेषामाद्यन्तदर्शिनो व्याख्यात्रादयोऽपि सन्ति । सत्यतः पुनस्त्वद्भक्ता एव तत्पारगाः, यतस्त एव तत्त्वतो योगिनः, पण्डिताः स्वस्थाश्च । तत्पारगाः तत्त्वतः इति चावृत्त्या योज्यम् । तत्र

'योगमेकत्वमिच्छन्ति……।' मा० वि० तं०, अ० ४, श्लो० ४ ॥

इति

'मय्यावेश्य मनो ये माम्……।' भ० गी०, अ० १२, श्लो० २ ॥

इति च स्थित्या योगिनो —नित्यसमावेशस्थाः । प्रशंसायां नित्ययोगे चेनिः । अनेन योगपादरहस्यनिष्ठत्वमेषामुक्तम् । पण्डितत्वं विद्यापादक्रियापादसतत्त्वरूढिः । तत्र विद्यापादेन 'ज्ञायतेऽनेन'—इति व्युत्पत्त्या उपायात्मकं नरशक्तिशिवस्वरूपं ज्ञानमेकं, 'ज्ञप्तिर्ज्ञानम्'—इति व्युत्पत्त्या उपेयात्मकं चिदानन्दघनस्वरूपविश्रान्तिसतत्त्वम्—इति च द्वितीयमभिधीयते । क्रियापादेनापि वीर्यसारमन्त्रतन्त्रमुद्रातदितिकर्तव्यताद्युपायरूपा तदुपायक्रमावाप्तस्वात्मविमर्शसारा एव क्रियाभिधीयते । तन्त्रमन्त्राणां समस्तवाच्यवाचकाभेदामर्शसारपरमानन्दघनशब्दराशिसतत्त्वमहंविमर्शसारं परं वीर्यम् । एतदविभि-

त्वत्स्फुरत्तामयी च महासामान्यस्वरूपा प्रतिभात्मा विमर्शशक्तिः सृष्टिसंहार-प्रधाना परापरं वीर्यम्। अपरं तु विश्वेश्वरादियुक्तिवशस्फुरिततद्वद्यदेव-ताकारा भेदप्रतिपत्तिः। मुद्राणां तु तत्प्रविसारतैव हृदयम्। कुण्डमण्डलेति-कर्तव्यतादेरपि परमेशज्ञानक्रियाशक्तिव्याप्तिरेव तत्त्वम्। एवं विद्यापरमार्थ-सतत्त्वविश्रान्तिरेव पाण्डित्यम्। स्वस्थत्वं तु चर्यापादाभिधेयोक्तम्। करणोन्मीलननिमीलनक्रमेणैव परमेश्वरवत् सततसृष्टिसंहारादिकारि-स्वस्वरूपावस्थितत्वम्। एतच्च सर्वं त्वद्भक्तानामेव तत्त्वतोऽस्तीत्यलम् ॥१॥

मायीयकालनियतिरागाद्याहारतर्पिताः ।
चरन्ति सुखिनो नाथ भक्तिमन्तो जगत्तटे ॥ २ ॥

हे नाथ ! कला-विद्या-राग-काल-नियतिरूप इन मायीय पञ्चकञ्चुकों को ग्रस्त करने से तृप्त बने हुए आपके भक्तवृन्द इस संसारसागर के तट पर सुखपूर्वक विचरण करते हैं ॥ २ ॥

कलादीनां पञ्चानां ग्रसनेन तर्पितत्वं तत्प्रातिपक्ष्येण यदकालकलित-त्वव्यापकनिराकाङ्क्षत्वकर्तृसर्वज्ञस्वस्वरूपप्राप्तिः। सुखिनः—आनन्दघनास्तृ-प्ताश्च सुखसञ्चारिणो भवन्ति ॥ २ ॥

रुदन्तो वा हसन्तो वा त्वामुच्चैः प्रलपन्त्यमी ।
भक्ताः स्तुतिपदोच्चारोपचाराः पृथगेव ते ॥ ३ ॥

हे परमशिव ! वे चित्समावेशशाली भक्तवृन्द रुदन करते हों या हँसते हों अर्थात् वे सुख और दुःख से आक्रान्त हों। इस प्रकार की सभी अवस्थाओं में रहते हुए भी आप का उत्कृष्टरूप से विमर्शन करते हैं। वस्तुतः आप की स्तुति में संलग्न रहते रहनेवाले भक्तवृन्द दूसरे लोगों से सर्वथा भिन्न ही होते हैं ॥ ३ ॥

अमी इति—समावेशशालिनो भक्ताः। रुदन्तो वा हसन्तो वा इति—सर्वावस्थावर्तिनोऽपि, त्वामुच्चैः—उत्कृष्टतया, प्रलपन्ति—स्फुटं विमृशन्ति। अमी एव सत्यतो भक्ताः। स्तुतिपदोच्चार एव उपचारः—सेवाप्रकारः—उपरञ्जनप्रकारो येषां, ते पृथगेव जनेभ्यो बाह्या एवेत्यर्थः ॥ ३ ॥

न विरक्तो न चापीशो मोक्षाकाङ्क्षी त्वदर्चकः ।
भवेयमपि तूद्रिक्तभक्त्यासवरसोन्मदः ॥ ४ ॥

हे करुणाकर शिव ! मैं न तो निवृत्तिधर्म से विरक्त और ऐश्वर्य सम्पन्न प्रवृत्तिधर्म से युक्त एवं मोक्षधर्म का अभिलाषी हूँ, किन्तु आप का पूजक ही बना रहूँ, और मैं उद्रेक भक्तिरूपी आसव के रस से अर्थात् चित्समावेश चमत्कार से उन्मद--उद्भूत आनन्द वाला ही बना रहूँ ॥ ४ ॥

विरक्तः—निवृत्तिधर्मा, ईशो वा—विभूतियुक्तः, प्रवृत्तिधर्मा, निज-निजेनौचित्येन त्वदर्चको मोक्षमाकाङ्क्षन् । न तु जीवन्मुक्तः न भवेयं—मा भूवमित्यर्थः । अपि तु उद्रिक्तेन—ऊर्जितेन भक्त्यासवरसेन—समावेशचमत्कृ-तिप्रकर्षेण उन्मदः—उद्भूतानन्दो भवेयम् ॥ ४ ॥

बाह्यं हृदय एवान्तरभिहृत्यैव योऽर्चति ।
त्वामीश भक्तिपीयूषरसपूरैर्नमामि तम् ॥ ५ ॥

हे ईश ! जो आप का भक्त बाह्य जगत् के प्रपञ्च को अपने हृदय के भीतर ही स्वीकार कर चित्समावेशरूपी भक्तिमय अमृतरस की धाराओं से आप आशुतोष शिव की ही अभिषेकपूर्वक पूजा करने में तत्पर है, वह भक्तहृदय को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ५ ॥

हृदय एव—प्रकाशपरामर्शात्मनि स्वरूप एव अन्तर्—मध्ये, बाह्यं—विश्वम् अभिहृत्य—समन्तात् स्वीकृत्यैव; न तु किञ्चिदवशेष्य । हे ईश—स्वामिन् ! यस्त्वां, भक्तिरेव परमाह्लादविकासहेतुत्वात्पीयूषरसासारास्तैः, अर्चति, तं भक्तिशालिनं नमामीति पूर्ववत् ॥ ५ ॥

धर्माधर्मात्मनोरन्तः क्रिययोर्ज्ञानयोस्तथा ।
सुखदुःखात्मनोर्भक्ताः किमप्यास्वादयन्त्यहो ॥ ६ ॥

हे जगन्नाथ ! अहो ! ये भक्तजन धर्म-अधर्मात्मक कार्य, ज्ञान-अज्ञान एवं सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों के मध्य में रहते हुए भी अद्वितीय दिव्य आनन्द का अनुभव करते हैं ॥ ६ ॥

लोके शुभाशुभरूपतया प्रसिद्धत्वेन धर्माधर्मत्वं, न तु भक्तिमद्भि-स्तथानुष्ठीयमानत्वात् । अन्तरिति—तन्मध्ये स्थिता अपि, किमपीति—असामान्यपरमानन्दात्मकं रूपम् ॥ ६ ॥

चराचरपितः स्वामिन् अप्यन्धा अपि कुष्ठिनः ।
शोभन्ते परमुद्दामभवद्भक्तिविभूषणाः ॥ ७ ॥

हे समस्त स्थावरजङ्गम के जनक ! हे स्वामिन् ! ज्ञानरूपी चक्षु से ही न अन्धे भी और कुष्टरोगी अर्थात् अत्यन्त निन्दनीय लोग भी आप की उद्रेकभक्ति से अलंकृत हो कर अतीव सुशोभित हो जाते हैं ॥ ७ ॥

अप्यन्धा अपि कुष्ठिन इति—लोके अत्यन्तं गर्हिता अपि,—इत्यर्थः ॥ ७ ॥

शिलोञ्छपिच्छकशिपुर्विच्छायाङ्गा अपि प्रभो ।
भवद्भक्तिमहोष्माणो राजराजमपीशते ॥ ८ ॥

हे प्रभवनशील देव ! जिन तपस्वी पुरुषों के अङ्ग फसल के पश्चात् खेत में गिरे हुए अन्न के दानों को चुन कर जीवन निर्वाह करने से और पक्षियों के परों रूपी भोजन एवं वस्त्रों से अत्यन्त कृश हो गये हैं, ऐसे मुनिवृत्ति को धारण करनेवाले लोग भी आप की भक्तिरूपी ऐश्वर्य सम्पदा की बड़ी ऊष्मा से युक्त हो कर राजराजेश्वर—कुवेर पर भी अपना शासन चलाते हैं ॥ ८ ॥

शिलोञ्छम्—उञ्छितं शिलं, पिच्छं—पक्षः, कशिपुः—भोजनाच्छादने शिलोञ्छपिच्छे एव कशिपुस्तेन विच्छायानि अङ्गानि येषां ते, एवमतिकृश-वृत्तयोऽपि यतो भवद्भक्तया महोष्माणः—अतिदीप्तोर्जितस्वरूपास्ततो राजराज—वैश्रवणमपि, ईशते—ऐश्वर्येणाभिभवन्तीत्यर्थः ॥ ८ ॥

सुधार्द्रायां भवद्भक्तौ लुठताप्यारुरुक्षुणा ।
चेतसैव विभोऽर्चन्ति केचित्त्वामभितः स्थिताः ॥ ९ ॥

हे सर्वव्यापक देव ! आप के चित्स्वरूप में मन, वचन एवं कर्म से अवस्थित रहनेवाले कुछ योगी लोग चिदानन्दरूपी सुधारस से सींची हुई आप की समावेशात्मिका भक्ति में लड़खड़ाते हुए कदम से भी चिदात्मयोगभूमिका पर समारूढ होने के इच्छुक मानसिक ही पूजा करते हैं, इतर बाह्य कुसुम आदि सामग्री से नहीं ॥ ९ ॥

सुधा परमानन्दरसः, आर्द्रा—सिक्ता, भक्तिः—समावेशः तत्र, लुठता- सम्यक् तत्पदानाक्रमणात् स्थिति जहता अपि, आरुरुक्षुणा—

अकृतकावष्टम्भं जिघृक्षुणा, चेतसैव—न तु बाह्येन कुसुमादिना, केचिदिति—परमयोगिनः, त्वाम् अभितः स्थिताः—अन्तर्बहिश्च सर्वत्र त्वय्येव विश्रान्ताः ॥ ९ ॥

रक्षणीयं वर्धनीयं बहुमान्यमिदं प्रभो ।
संसारदुर्गतिहरं भवद्भक्तिमहाधनम् ॥ १० ॥

हे प्रभवनशील शिव ! आप की निर्मल भक्ति बड़ी भारी सम्पदा सांसारिक दुर्गति की निवृत्ति करनेवाली होती है। इसलिये यह सदैव संरक्षणीय, वर्धनीय एवं बहुमाननीय है ॥ १० ॥

रक्षण—व्युत्थानेनानपहारः । वर्धनं—क्रमात्क्रममन्तरन्तरनुप्रवेशेन स्फीततापादनम् बहुमानः—सर्वोत्कृष्टतया आदरः ॥ १० ॥

नाथ ते भक्तजनता यद्यपि त्वयि रागिणी ।
तथापीर्ष्यां विहायास्यास्तुष्टास्तु स्वामिनी सदा ॥ ११ ॥

हे शरणागतवत्सल शशिशेखर ! यद्यपि आप की भक्तसमुदायरूपिणी नायिका चिद्रूप में अत्यन्त अनुरक्त है, तो भी स्वामिनी—पराशक्तिरूपिणी भगवती पार्वती ईर्ष्या को छोड़ करके इस भक्तजनतारूपिणी स्त्री पर सदा सन्तुष्ट रहे ॥ ११ ॥

भक्तजनता रागिणी—नायिकेव । ईर्ष्यात्यागः—अवकाशदानम् । तुष्टा—विकसिता। स्वामिनी—पराशक्तिरिति प्रकृते। अप्रकृते तु स्वामिनी—महादेवी ॥ ११ ॥

भवद्भावः पुरो भावी प्राप्ते त्वद्भक्तिसम्भवे ।
लब्धे दुग्धमहाकुम्भे हता दध्नि गृध्नुता ॥ १२ ॥

हे परमशिव ! आपकी निर्मलभक्ति का संयोग बैठ जाने पर आप से अभिन्न-स्वरूपलाभ की प्राप्ति निश्चित ही हो जाती है। जबकि दुग्ध से भरा हुआ घर मिल जाने पर दधि की थोड़ी-सी भी अभिलाषा नहीं रह जाती है ॥ १२ ॥

त्वद्भक्तिसम्भवे—त्वत्समावेशे भवद्भावः पुरो भावी त्वद्रूपता समासन्नैव; न तु प्रार्थनीया। यतो महति क्षीरघटे प्राप्ते दध्नि या गृध्नुता—अभिलाषुकता सा हता—व्यर्थैव; दुग्धेनैव दध्नोर्गर्भीकारात् ॥ १२ ॥

किमियं न सिद्धिरतुला
　　किं वा मुख्यं न सौख्यमास्रवति ।
भक्तिरुपचीयमाना
　　येयं शम्भोः सदातनी भवति ।। १३ ।।

जो भगवान् शम्भुनाथ की चित्समावेशात्मिका विमलभक्ति है, वह चरम सीमा पर्यन्त पहुँचायी जाने पर स्थिर-नित्य रहनेवाली हो जाती है। क्या यह अनुपम परा सिद्धि नहीं है? अथवा क्या यह चिदानन्दरूपी सर्वोत्कृष्ट सुख की धारा को नहीं बहाती है? अवश्य ही बहाती है ।। १३ ।।

शम्भोर्भक्तिरुपचीयमाना—परां धारां प्राप्यमाणा येयं सदातनी भवति—पराभक्तिरूपतामासादयति । किं नेयमतुला सिद्धिः? अपितु अतुलैव—परैव सिद्धिः । मुख्यं सौख्यं—परमानन्दं वा किं न आ—समन्तात् स्रवति? स्रवत्येवेत्यर्थः ।। १३ ।।

मनसि मलिने मदीये
　　मग्ना त्वद्भक्तिमणिलता कष्टम् ।
न निजानपि तनुते तान्
　　अपौरुषेयान्स्वसम्पदुल्लासान् ।। १४ ।।

बड़े कष्ट की बात यह है कि चित्समावेशात्मिका निर्मलभक्ति मणि-लता मेरे व्युत्थानदशा से कलङ्कित मलिन अन्तःकरण में डूब कर अपने सहज उन समावेश-दशा से प्रस्फुरित अद्वितीय चिदानन्दमय स्व-स्वर्गीय सम्पदाओं के उन उल्लासों का भी दर्शन नहीं कराती है ।। १४ ।।

मालिने—व्युत्थानकलङ्किते मग्ना—व्युत्थानाच्छादिता त्वद्भक्तिरेव मणिलता—सर्वसिद्धिप्रसूः रत्नशाखा, निजान्—सहजान् तानिति—समावेशेन स्फुरितान् अलौकिकान्, सर्वाकांक्षापरिहारिपरमानन्दमयान् न तु मिताणिमादिरूपान् ।

'किमियं न सिद्धिरतुला'...... । स्तो० १५, श्लो० १३ ।
इतीदानीमेवोक्तत्वात् ।। १४ ।।

भक्तिर्भगवति भवति
त्रिलोकनाथे ननूत्तमा सिद्धिः ।
किन्त्वणिमादिकविरहात्
सैव न पूर्णेति चिन्ता मे ॥ १५ ॥

आप त्रिलोकी के स्वामी भगवान् परमशिव की यह समावेशात्मिका भक्ति निःसन्देह ही एक अनुपम सिद्धि है । किन्तु स्वरूप प्रतिपत्तिरूपा अणिमादि अष्टसिद्धि से विहीन वह परिपूर्ण नहीं समझी जाती है । अतः यही मुझे चिन्ता है ॥ १५ ॥

भगवति त्रिलोकस्य नाथे । नन्विति वितर्के । उत्तमा सिद्धिर्निराशंसत्वप्रथनात् । किन्तु—इति विशेषे । अणिमादीनां—स्वरूपप्रतिपत्तिसाराणां प्राक्प्रतिपादितानां विरहात्—अप्रथनात्, न पूर्णा—इति मे चिन्ता । अणिमादिविशिष्टां पूर्णां भक्तिसिद्धिं प्राप्स्यामीत्यर्थः ॥ १५ ॥

बाह्यतोऽन्तरपि चोत्कटोन्मिष-
त्त्र्यम्बकस्तवकसौरभाः शुभाः ।
वासयन्त्यपि विरुद्धवासनान्
योगिनो निकटवासिनोऽखिलान् ॥ १६ ॥

जिन्हें आन्तर एवं बाह्य प्रदेश से भी भगवान् परम की स्तवनरूपी प्रफुलित पुष्प-गुच्छा से सोरभ मिल गयी है, ऐसे सुवुद्ध परमयोगी दुर्वासना की दुर्गन्धि से युक्त सभी निकट रहनेवाले जीवों को भी सुगन्धित कर देते हैं अर्थात् अपने सदाचाररूपी कर्म से सभी पामर जनों को भी भक्तिभाव में जोड़ देते हैं ॥ १६ ॥

उत्कटम्—अतिदीप्तम् । उन्मिषतः—उल्लसतः त्र्यम्बकस्तवकस्य—शिवकुसुमगुच्छस्य संबन्धि सौरभम्—आमोदो येषां योगिना ते, शुभाः—बहिरन्तश्च पूजनेनाधिवासिताः, विरुद्धवासनान् अनाश्वस्तानपि अखिलान् निकटवासिनो जनान् वासयन्ति—उभयपूजोन्मुखान् सम्पादयन्ति । बाह्ये त्र्यम्बकार्थं स्तवकः, अन्तस्तु त्र्यम्बक एव स्तवकः । एवं सौरभम्—आत्मोदश्चमत्कारश्च ।

अथ च—उत्कटेन त्र्यम्बकस्तवकस्य—धत्तूरकुसुमस्य सौरभेणाधिवासिताः निकटस्थान् विभिन्नानामोदानपि वासयन्तीति अनुरणनव्यङ्ग्योऽर्थः ॥ १६ ॥

ज्योतिरस्ति कथयापि न किंचि-
द्विश्वमप्यतिसुषुप्तमशेषम् ।
यत्र नाथ शिवरात्रिपदेऽस्मिन्
नित्यमर्चयति भक्तजनस्त्वाम् ॥ १७ ॥

हे स्वामिन् ! जिस परमार्थ स्थिति में ज्योति अर्थात् आन्तर एवं बाह्य इन्द्रियजन्य ज्ञान कुछ भी अपना अस्तित्व नहीं रखता है अर्थात् ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञेय की त्रिपुटी समाप्त हो जाती है, तथा जिस काल में मायीय भेदप्रथात्मक समस्त प्रपञ्च की निवृत्ति हो जाने पर यह विश्व भी प्रसुप्तदशा में लीन पड़ा है। इसी शिवसमावेशभूमि में अर्थात् महाशिवरात्रि में भक्तवृन्द निरन्तर पूजन करते हैं ॥१७॥

ज्योतिः—बाह्यान्तःकरणजं ज्ञानं, यत्र नाम्ना किञ्चिन्नास्ति। समस्त-मायीयप्रथायाः संहरणाद्विश्वमपि सकलमतिसुषुप्तम्। अत्र शिवरात्रिपदे—शिवसमावेशभूमौ समस्ताख्यातिप्रथायाः संहरणाद्रात्रिरिव रात्रिस्तस्याः पदे—स्थाने ॥ १७ ॥

सत्त्वं सत्यगुणे शिवे भगवति स्फारीभवत्वर्चने
चूडायां विलसन्तु शङ्करपदप्रोद्यद्रजःसञ्चयाः ।
रागादिस्मृतिवासनामपि समुच्छेत्तुं तमो जृम्भता
शम्भो मे भवतात्त्वदात्मविलये त्रैगुण्यवर्गोऽथवा ॥ १८ ॥

हे कल्याणकर शिव ! पारमार्थिक सर्वज्ञत्वादि दिव्यगुण जिसमें है, ऐसे भगवान् परमशिव की पूजा करने में सत्त्वादि गुण का स्फुटतया विकास हो । भगवान् शङ्कर के चरण-कमलों से उद्भूत धूलिपुञ्ज रूपी रजोगुण मेरे शिखा प्रान्त पर विलसित हो और राग-द्वेष आदि द्वन्द्वों की स्मरण-विषयक वासनाओं का भी भली प्रकार उच्छेदन के लिये त्रिगुणात्मक सारा प्रपञ्चवर्ग आप के चित्स्वरूप में विलीन हो जाय ॥ १८ ॥

सत्याः—परमार्थिकाः सर्वज्ञत्वादयो गुणा यस्य, तत्र शिवे भगवति यदर्चनं—चिद्विश्रान्तिपरमार्थस्वरूपं, तत्र सत्त्वं—प्रकाशः स्फारीभवतु। चूडायां—मध्यशिखायां शिवशक्त्युदिताः रजःप्रसराः—किरणनिकराः स्वस्वरूपोन्मीलकाः विलसन्तु। तमश्च—अख्यात्यात्मा मोहः रागादिस्मृतिहेतुं

वासनामपि सम्यगुच्छेत्तुमपुनर्भवाय जृम्भताम् । अथवा त्रैगुण्यवर्गस्त्वदात्मनि यो विलयः—निःशेषमुपशान्तिस्तत्र भवतात्- त्वय्येव विलीनो भूयादित्यर्थः ॥ १८ ॥

संसाराध्वा सुदूरः खरतरविविधव्याधिदग्धाङ्गयष्टिः
भोगा नैवोपभुक्ता यदपि सुखमभूज्जातु तन्नो चिराय ।
इत्थं व्यर्थोऽस्मि जातः शशिधरचरणाक्रान्तिकान्तोत्तमाङ्ग-
स्त्वद्भक्तश्चेति तन्मे कुरु सपदि महासम्पदो दीर्घदीर्घाः ॥१९॥

हे संसाररूपी रथ को चलानेवाले देव ! संसार यात्रा का पथ अत्यन्त दूर है अर्थात इस मार्ग की सीमा निश्चित नहीं है । अनेक प्रकार की असाध्य व्याधियों से शरीर में ज्वलन उठ रही है, इससे भोगों का उपभोग नहीं किया जा रहा है । मुझे जो कुछ सुख मिला था वह भी अल्पकाल में समाप्त हो गया । अतः मैं इस अनित्य दुःखरूप संसार में व्यर्थ ही उत्पन्न हुआ हूँ । किन्तु शशि शेखर शिव के चरण-कमलों के संस्पर्श से मेरा प्रत्यङ्ग दिव्य बन गया है फिर भी मैं आप का भक्त बना रहा हूँ । अत एव चिरकाल पर्यन्त स्थिर रहनेवाली महा ऐश्वर्य सम्पदा मुझे अविलम्ब ही दीजिये ॥ १९ ॥

इति श्रीसर्वदर्शनाचार्यश्रीकृष्णानन्दसागरकृत-हिन्दीव्याख्या-स्तवरञ्जनी ।

सुदूरः—कृच्छ्रप्राप्यपर्यन्तः । भोगा इति उत्तमा इह विवक्षिताः । जातु—कदाचित् । नो—निषेधे । अस्मीति— देहादिप्रमातृतारूपः । यतस्तु शशिधरचरणाक्रान्त्या—ईश्वरशक्तिपातेन कान्तं—दीप्रं संवित्प्रधानम्, अत एवोत्तमाङ्गं स्वरूपं यस्य । त्वद्भक्तश्चेति—तथाभूतोऽपि त्वामेव सेवमानः । तस्मान्मे दीर्घदीर्घाः—शाश्वतीर्महासम्पदः—प्राग्वदद्वयमयीः कुर्विति शिवम् ॥ १९ ॥

इति श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितस्तोत्रावलौ भक्तिस्तोत्रनाम्नि पञ्चदशे स्तोत्रे श्रीक्षेमराजाचार्यविरचिता विवृतिः ॥ १० ॥

अथ

षोडशं स्तोत्रम्

न किञ्चिदेव लोकानां भवदावरणं प्रति।
न किञ्चिदेव भक्तानां भवदावरणं प्रति ॥ १ ॥

हे पशुपतिनाथ ! पामर प्राणियों के लिये चिद्रूप को आवृत्त करने वाली क्या कुछ भी नहीं है। पशुजनों के लिये तो यह सारा संसार मायीय भेदप्रथात्मक है। आपके चित्स्वरूप समावेश सम्पन्न भक्तजनों के लिये आपके स्वरूप आच्छादक कुछ भी नहीं है ॥ १ ॥

भवदावरणं प्रति--चिन्मयत्वत्स्वरूपावरणाय लोकानां– संसारिणां न किञ्चिदेव ? काका—अपि तु विश्वमेवापर्यन्तसमस्तशक्तिचक्रव्यामोहितत्वात्। भक्तानां तु न किञ्चिदेव—नैव किञ्चिदित्यर्थः,--शिवतत्त्वपर्यन्तस्याशेषस्य स्वाङ्गकल्पतया प्रमेयीकृतत्वात् ॥ १ ॥

अप्युपायक्रमप्राप्यः सङ्कुलोऽपि विशेषणैः।
भक्तिभाजां भवानात्मा सकृच्छुद्धोऽवभासते ॥ २ ॥

हे परम शिव ! आप चिदात्मा शास्त्रोक्त ज्ञान-क्रिया-योगचर्यादि साधनक्रम से प्रासव्य भी है और सर्वज्ञत्व-सर्वकर्तृत्व-सर्वशक्तिमयत्वादि असंख्य विशेषणों से संकीर्ण भी है, तो भी आप भक्तिशाली को चित्समावेश काल में सदैव शुद्ध अद्वैत रूप से आभासित होते हों ॥ २ ॥

उपायक्रमः—तत्तच्छास्त्रोक्तज्ञानक्रियायोगचर्यादिः। विशेषणैः—सर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वसर्वशक्तिमयत्वादिभिरसंख्यैः। यथोक्तमपि

'सर्वसिद्धिवाचः क्षयेरन्'

इत्यादि च। तथाभूतो भवानात्मा भक्तिभाजां सकृत्—सन्ततं शुद्धः—

चिदेकपरमार्थः अवभासते—समावेशेन स्फुरति। यश्च क्रमप्राप्यः सङ्कुलश्च स कथं सकृच्छुद्धश्च भातीति विरोधाभासः ॥ २ ॥

जयन्तोऽपि हसन्त्येते जिता अपि हसन्ति च।
भवद्भक्तिसुधापानमत्ताः केऽप्येव ये प्रभो ॥ ३ ॥

हे प्रभवनशील देव ! जो भक्तहृदय आपकी निर्मल भक्तिरूपी सुधारस का पान कर उन्मत्त - हृष्ट हो जाते हैं। वे विजय प्राप्त कर लेने पर भी हँसते हैं और व्युत्थान काल में उस चिदानन्द सुख से वञ्चित होने पर भी हँसते हैं, ऐसे भक्त तो कोई विरले ही होते हैं ॥ ३ ॥

जयन्तः—इति, भेदाधस्पदीकरणेन समाविशन्तः, हसन्ति—विकसन्ति। जिता अपीति—व्युत्थानेनाकृष्यमाणा अपि समावेशसंस्काराद्बहिश्च विकसन्ति—लौकिकजयपराजययोर्हसन्त्येव। मत्ताः—हृष्टाः। अथ च ये मत्ताः क्षीवास्ते जयपराजययोर्हासवन्तो भवन्ति। केऽपीति—अलौकिकाः ॥ ३ ॥

शुष्कक्रं मैव सिद्ध्येय मैव मुच्येय वापि तु।
स्वादिष्ठपरकाष्ठाप्तत्वद्भक्तिरसनिर्भरः ॥ ४ ॥

हे कामेश्वरनाथ शिव ! मैं चित्समावेशात्मिका भक्ति रस से रहित शुष्क रूप में भोग सिद्धि को प्राप्त न करूँ और भक्ति के विना भोग एवं मोक्ष ये दोनों ही मुझे नहीं चाहिये। किन्तु मैं तो सदैव चरम सीमा पर पहुँची हुई आपकी निर्मल भक्ति के मधुर रस से परिपूर्ण रहूँ ॥ ४ ॥

शुष्कमेव शुष्कक्रं क्रियाविशेषणम्। शुष्कक्रं—समावेशभक्तिरसरहितं कृत्वा। तादृशौ भोगमोक्षौ भेदवादिनां, स्वादिष्ठो—निरतिशयचमत्कारो धाराधिरूढश्च यस्त्वत्समावेशरसः तेन निर्भरं—पूर्णं कृत्वा। अत एव शुष्कतानिवृत्तिः ॥ ४ ॥

यथैवाज्ञातपूर्वोऽयं भवद्भक्तिरसो मम।
घटितस्तद्वदीशान स एव परिपुष्यतु ॥ ५ ॥

हे सर्वतन्त्र स्वतन्त्र महेश्वर ! जिसका पूर्वकाल में—कोटि जन्मों में भी भलीभाँति ज्ञान नहीं था, ऐसा यह स्फुरद्रूप आपकी निर्मल भक्ति का मधुररस समावेश प्रसर जैसे ही अज्ञान अवस्था में ही मुझे मिल गया है, वैसे ही यह बढ़ता जाय ॥५ ॥

अज्ञातपूर्वं इति—जन्मकोटिमध्येऽप्यविदितः। अयमिति—स्फुरद्रूपः। भक्तिरसः—समावेशप्रसरः। ईशान—स्वतन्त्र। तद्वदिति—झटित्यज्ञातपूर्वः। यथैवेति—यं प्रकारं त्वमेव जानासीत्यर्थः ॥ ५ ॥

सत्येन भगवन्नान्यः प्रार्थनाप्रसरोऽस्ति मे ।
केवलं स तथा कोऽपि भक्त्यावेशोऽस्तु मे सदा ॥ ६ ॥

हे षड्विधैश्वर्यसम्पन्न शिव ! यह सत्य है कि मेरे पास दूसरी प्रार्थना के लिये अवकाश ही नहीं है अर्थात् भक्तिरूपी प्रार्थना से व्यतिरिक्त अन्य कोई अभिलाषा ही नहीं है। अतः वह अपूर्व वाग्विकल्पातीत भक्ति का समावेश कैवल्य ही मुझे सदैव मिलता रहे ॥ ६ ॥

अतिप्रणयपरिचयादियमुक्तिः। अन्य इति—भक्तिप्रार्थनातो व्यतिरिक्तः। स तथा कोऽपीति—वाग्विकल्पातीतः। भक्त्यावेशः—समावेशवैवश्यम् ॥ ६ ॥

भक्तिक्षीवोऽपि कुप्येयं भवायानुशयीय च ।
तथा हसेयं रुद्यां च रटेयं च शिवेत्यलम् ॥ ७ ॥

हे भवेश ! मैं आपकी निर्मल भक्ति में उत्मत्त हो कर इस मायीय भेदप्रथात्मक संसार के प्रति क्रोध करूँ अर्थात् उसे ग्राम्यरूप से देखता रहूँ और इतने समय तक क्यों मैं मोह के वशीभूत हुआ था इस प्रकार पश्चात्ताप का अनुभव करता रहूँ तथा सुखावस्था में स्थित हो कर साक्षिरूप से संसार को देखता हुआ हँसता रहूँ और आनन्द अश्रु से भक्तिभाव में रोता रहूँ तथा जाग्रदादि में सर्वत्र 'शिव-शिव' इस नाम एवं रूप का रटन करता रहूँ। ७ ॥

भवाय—संसाराय, कुप्येयं—ग्राम्यत्वेन संसारमवलोकयेयमित्यर्थः। अनुशयीयेति—कथमियन्त कालं व्यामूढ आसमिति पश्चात्तापमनुभवेयम्। हसेयं—प्रमोदेन विकसेयम्। रुद्यां—आनन्दाश्रुप्लुतः स्याम्। रटेयमिति—शिवशिवेति शब्दमुखरः स्याम् क्षीवस्यैवमेव नानावृत्त्युदयो भवति ॥ ७ ॥

विषमस्थोऽपि स्वस्थोऽपि रुदन्नपि हसन्नपि ।
गम्भीरोऽपि विचित्तोऽपि भवेयं भक्तितः प्रभो ॥ ८ ॥

हे प्रभवनशील शिव ! आपकी विमल भक्ति के चमत्कार से मैं सांसारिक विषम परिस्थितियों से आक्रान्त रहता हुआ भी अपने चित्स्वरूप में सदैव स्थित बना रहूँ तथा बन्धु-बान्धवादि के मरण दशा में रोता हुआ भी आन्तर चित्प्रकाश के कारण हँसता रहूँ और सामाजिक व्यवहार अत्यन्त गंभीर-गहन होते हुए भी विक्षिप्त-सा बना रहूँ ॥ ८ ॥

विषमस्थोऽपि—दौर्गत्योपहतोऽपि, भक्तितः स्वानन्दविश्रान्तः; विषमस्थः—सूचीपुञ्जोपविष्ट इव लौकिकं सुखं दुःखरूपेण पश्यन् । तथा बान्धवमरणाद्यवस्थायां रुदन्नपि अन्तश्चिद्विकासलाभात् प्रहृष्यन्; तथा सांसारिकप्रमोदेषु तथा हसन्नपि रुदन्—शोचनीयतां मन्यमानः । तथा लौकिकव्यवहारे गम्भीरोऽपि—परैरनालक्ष्योऽपि विचित्तः—तां दशामुत्पातमिव मन्वानस्तथा विचित्तोऽपि— क्वचन सन्निपाताद्यवसरे नष्टस्मृतिरपि गम्भीरः—परैरनालोचितोऽप्यन्तर्दशाव्याप्तिप्रमोदनिर्भरः स्याम् ॥ ८ ॥

भवतानां नास्ति संवेद्यं त्वदन्तर्यदि वा बहिः ।
चिद्धर्मा यत्र न भवान्निर्विकल्पः स्थितः स्वयम् ॥ ९ ॥

हे शिव ! शिवस्वरूप समाविष्ट भक्तजनों के लिए आन्तर अथवा बाह्य संवेद्य अनुभव के योग्य कोई भी बात नहीं होती है । जिसमें निर्विकल्प तथा चित्स्वभाव आप स्वयमेव साक्षात् स्फुरित होते हुए विद्यमान नहीं रहते हों ॥ ९ ॥

संवेद्यं—संसारलीलादि । चिद्धर्मा—चित्स्वभावः । स्वयमिति—साक्षात्स्फुरन्, नांशाधिष्ठानेन ॥ ९ ॥

भक्ता निन्दानुकारेऽपि तवामृतकणैरिव ।
हृष्यन्त्येवान्तराविद्धास्तीक्ष्णरोमाञ्चसूचिभिः ॥ १० ॥

हे महादेव ! आपकी माया से मोहित हो कर कुछ भक्त दुष्ट लोगों की सभा में आपको तत्त्वतः नहीं जानने से निन्दा करने पर भी मानो अमृत कणों से आप्लावित हो कर प्रसन्न हो जाते हैं । अत एव हृदय में पाश-भेदन करने वाली तीक्ष्ण रोमाञ्च-रूपी सुइयों से विद्ध जाते हैं ॥ १० ॥

तव निन्दानुकारेऽपि—उपहतजन्तूपक्लृप्तामप्रशंसामनुकुर्वन्तो भक्ता [भक्त्या] हृष्यन्त्येव—स्फुरत्तात्त्विकस्वरूपाः परमानन्दव्याप्तिं लभन्त एव। अत एव पाशनिर्भेदिनीभिस्तीक्ष्णाभी रोमांचसूचिभिः, आ–समन्ताद्विद्धाः ॥१०॥

दुःखापि वेदना भक्तिमतां भोगाय कल्पते।
येषां सुधार्द्रा सर्वैव संवित्त्वच्चन्द्रिकामयी ॥ ११ ॥

हे परम शिव ! जब कि यह संवेदना दुःखदायिनी होती हुई भी भक्तजनों के लिए अपने आत्मस्वरूप का अनुभव कराने में सहयोगी बन जाती है और भक्तों के लिए संवित अर्थात् चितिशक्ति चिदानन्दरूपी अमृत रस से आप्लावित आपकी पराशक्तिरूपा चन्द्रिका से युक्त होती है ॥ ११ ॥

वेदना—संवित्, दुःखापि—दुःखकारिण्यपि, भोगायेति—दुःखस्य चमत्कार्यत्वाच्चमत्कर्तृतासारानन्दघनप्रमातृपदवित्तये। तत एवाह—सर्वैव संवित्– चितिशक्तिः येषां सुधार्द्रा परमानन्दघनत्वाच्चन्द्रिकामयी पराशक्तिरूपा ॥ ११ ॥

यत्र तत्रोपरुद्धानां भक्तानां बहिरन्तरे।
निर्व्याजं त्वद्वपुःस्पर्शरसास्वादसुखं समम् ॥ १२ ॥

हे करुणाकर शिव ! सुख, दुःख आदि के हेतुरूप सभी अवस्थाओं में अवस्थित भक्तों के लिए आपके चिन्मय स्वरूप के स्पर्श रसास्वादन का सुख आन्तर एवं बाह्य अर्थात् समाधि एवं व्युत्थान दोनों दशाओं में वासना कालुष्य से शून्य एक-सा ही रहता है ॥ १२ ॥

सुखदुःखतद्धेत्वादिरूपे उपरुद्धानाम्—अवस्थितानां भक्तानां निर्व्याजम्—अन्तर्विचित्रवासनाकालुष्यशून्यं त्वद्वपुषः—चिन्मयत्वत्स्वरूपस्य संबन्धि, यत्स्पर्शरसास्वादसुखं सर्वतुल्यम्। उक्तं च

........समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ भ० गी०, अ० ६, श्लो० ९ ॥

इति ॥ १२ ॥

तवेश भक्तेरर्चायां दैन्यांशं द्वयसंश्रयम्।
विलुप्यास्वादयन्त्येके वपुरच्छं सुधामयम् ॥ १३ ॥

हे ईश ! आपकी पूजा में जो भक्ति है, उसकी भेद-सम्बन्ध दैन्यांश का छेदन कर कुछ शैवाद्वैत भाव में समाविष्ट रहने वाले सुप्रबुद्ध लोग आपके विशुद्ध चिदानन्द-रूपी सुधारस से परिपूर्ण स्वरूप का अविलम्ब ही साक्षात्कार कर लेते हैं। आशय यह है कि द्वैताद्वैत भक्त आपका दर्शन कर ही लेते हैं, किन्तु शुद्धाद्वैत भक्त तो स्वरूप समावेश के द्वारा शीघ्र ही आत्मावबोध प्राप्त कर लेता है। द्वैत भक्त को तो आपके साथ शिवता की उत्कण्ठा बनी रहती है, इसलिये उसे प्रतीक्षा करनी पड़ती है और दैन्यभाव में डूबा रहता है ॥ १३ ॥

तवार्चायां—प्राग्व्याख्यातायां या भक्तिः—सेवा, तस्याः द्वयसंश्रयं—भेदसंबद्धं दैन्यांशं—दीनतालेशमपि विलुप्य—छित्वा, एके—केचिदेव भेदविगलनाद् अच्छं—निर्मलं, अत एव सुधामयम्—आनन्दरससारं वपुः—स्वरूपम् आस्वादयन्ति—चमत्कुर्वन्ति । दैन्यांशम्—इत्यत्रायमाशयः द्वैतभक्तेरद्वैतभक्तेश्च शिवप्राप्तिर्भवत्येव किन्त्वद्वैतभक्तिः सद्यः समावेशमयी द्वैतभक्तिस्त्वतथात्वाच्छिवताकाङ्क्षामयी ॥ १३ ॥

भ्रान्तास्तीर्थदृशो भिन्ना भ्रान्तेरेव हि भिन्नता ।
निष्प्रतिद्वन्द्वि वस्त्वेकं भक्तानां त्वं तु राजसे ॥ १४ ॥

हे उमाकान्त ! शास्त्रवेत्ता पुरुष भी भ्रम में डूब जाते हैं; इसलिये कि वे आप से दूर हो जाते हैं और आपका वियोग भ्रान्ति से ही हुआ करता है। किन्तु अपने प्रिय जनों के लिये तो आप प्रतिद्वन्द्वी से रहित अद्वितीय चिद्घन के रूप में सदैव शोभायमान रहते हो ।। १४ ॥

तीर्थदृशः—शास्त्रदृष्टयो यतो भ्रान्तास्ततो भिन्नाः, यस्माद्भिन्नता नाम भ्रान्तेः—ऐक्याख्यातेर्हेतुर्भवति न तु वस्तुतः। भक्तानां तु त्वमेकम्—अद्वितीयं वस्तुतत्त्वं निष्प्रतिद्वन्द्वित्वाच्चिद्घनं राजसे—दीप्यसे ॥ १४ ॥

मानावमानरागादिनिष्पाकविमलं मनः ।
यस्यासौ भक्तिमांल्लोकतुल्यशीलः कथं भवेत् ॥ १५ ॥

हे विश्वनाथ ! जिसका चित्त मान एवं अपमान, सुख एवं दुःख, राग एवं द्वेष आदि द्वन्द्वों से रहित हो कर विमल हो जाता है। वह भक्ति सम्पन्न भक्त सामान्य व्यक्ति के समान कैसे हो सकता है ? ॥ १५ ॥

यस्य भक्तिमतो मानावमानयोः रागादीनां च यो निष्पाकः—निःशेषेण पचनं दग्धबीजकल्पतापादनं तेन हेतुना मनः—स्वान्तं विमलम्—अकलङ्कम् ॥ १५ ॥

रागद्वेषान्धकारोऽपि येषां भक्तित्विषा जितः ।
तेषां महीयसामग्रे कतमे ज्ञानशालिनः ॥ १६ ॥

हे संवित्प्रकाश शिव ! जिन भक्तों ने आपकी निर्मल भक्ति के तेज से राग एवं द्वेषरूपी गहनतम का भी अतिक्रमण कर दिया है, उन महान् तेजस्वी पुरुषों की तुल्यता केवल शास्त्रीय विवेचन में पड़े हुए पण्डितलोग क्या कर सकते हैं ? ॥ १६ ॥

महीयसामिति—ईयसुनोऽयमाशयः ;—समव्याप्तिकत्वं ज्ञानिनां भक्तानां च । तत्र भक्तानां तु रागद्वेषान्धकारस्य जयाद्विशेषः ॥ १६ ॥

यस्य भक्तिसुधास्नानपानादिविधिसाधनम् ।
तस्य प्रारब्धमध्यान्तदशासूच्चैः सुखासिका ॥ १७ ॥

हे गङ्गाधर ! जिसका भक्तिरूपी सुधा ही स्नान, पान आदि सभी कार्यों में साधन बन जाता है उसका आदि मध्य एवं अन्तिम अवस्थाओं में सर्वोत्तम जीवन बन जाता है अर्थात् उसका सारा जीवन सुख—पूर्वक बीत जाता है ॥ १७ ॥

भक्तिरेव सुधा—अमृतं, सा यस्य स्नानपानादिविधेः—शुद्धितृप्त्यादिफलस्य व्यापारग्रामस्य साधनम् । तस्य प्रारब्धमध्यान्तदशासु—आदौ, मध्ये अन्ते च अर्थात् सर्वव्यापाराणामुच्चैः सुखासिका—परमानन्दविश्रान्तित्वम् ॥ १७ ॥

कीर्त्यश्चिन्तापदं मृग्यः पूज्यो येन त्वमेव तत् ।
भवद्भक्तिमतां श्लाघ्या लोकयात्रा भवन्मयी ॥ १८ ॥

हे परमात्मन् ! जबकि आप ही अपने भक्तजनों के लिये कीर्तनीय, अन्वेषणीय, अर्चनीय एवं चिन्तन का विषय होते हों । इसलिये उनकी लोकयात्रा-लौकिक व्यवहार आप से अभिन्न होने के कारण श्लाघनीय होता है ॥ १८ ॥

येनेति हेतौ । तदिति—तस्मात्, लोकयात्रा च कीर्तनादिमय्येव ॥१८॥

मुक्तिसंज्ञा विपक्वाया भक्तेरेव त्वयि प्रभो ।
तस्यामाद्यदशारूढा मुक्तकल्पा वयं ततः ॥ १९ ॥

हे प्रभवनशील देव ! परिपक्व-पूर्ण अवस्था को प्राप्त हुई आपकी चित्समावेशात्मिका विमलभक्ति का ही नाम मोक्ष है । किन्तु हम लोग तो उस भक्ति की प्रथमभूमिका पर समारूढ हो गये हैं । इसलिये हम लोग जीवन्मुक्त-सी स्थिति में ही रहते हैं ॥ १९ ॥

विपकायाः—परिपूर्णायाः। आद्यदशारूढेति—उत्तरोत्तरप्रकर्षसाध-नायोद्युक्ता अपि प्रथमभूमिकायां लब्धस्थितयः। मुक्तकल्पा इति—मनाङ्मात्रेणासम्पूर्णमुक्तयो न तु मुक्ताः॥ १९॥

दुःखागमोऽपि भूयान्मे त्वद्भक्तिभरितात्मनः।
त्वत्पराचो विभो मा भूदपि सौख्यपरम्परा॥ २०॥

हे विभो! आपकी समावेशात्मिका निर्मलभक्ति से परिपूर्ण आत्मभाव में स्थित रहता हुआ मुझ पर दुःख भी आ पड़े। किन्तु आप से विमुख हो कर सुख की अनवच्छिन्न परम्परा भी मुझे नहीं चाहिये॥ २०॥

त्वत्पराची—त्वत्पराङ्मुखी॥ २०॥

त्वं भक्त्या प्रीयसे भक्तिः प्रीते त्वयि च नाथ यत्।
तदन्योन्याश्रयं युक्तं यथा वेत्थ त्वमेव तत्॥ २१॥

हे शरणद शिव! जबकि आप चित्समावेशरूपा विमलभक्तिभाव से सदैव प्रसन्न रहते हों और आप की प्रसन्नता होने पर ही भक्ति सुलभ है। इसलिये यह अन्योन्याश्रय दोष कैसे युक्तियुक्त हो सकता है। वह सब तो आप ही जानते हों। आशय यह है कि आप को प्रसन्नता से ही भक्ति प्राप्त होती है और जब तक चित्समावेशरूपा भक्ति नहीं होती, तब तक आपकी प्रसन्नता कैसे? यह एक दूसरे पर आधार रखनेवाली बात कैसे सम्पन्न हो सकती है। आप ही इन दोनों बातों को सिद्ध कर सकते हैं, अन्य व्यक्ति का सामर्थ्य नहीं है॥ २१॥

यावन्न परमेश्वरः प्रीयते न तावद्भक्तिः, यावच्च न समावेशमयी भक्तिः न तावत्परमेश्वरः प्रीयते, भक्तिमतश्चिदानन्दमयं वपुः प्रकटयति। तदेतदन्योन्याश्रयं यथा—येन प्रकारेण युक्तं भवति तथा त्वमेव अतिदुर्घटकारिणः स्वातन्त्र्यादुभयं घटयसि न त्वत्र पुरुषाणां युक्तयः प्रभवन्ति॥ २१॥

साकारो वा निराकारो वान्तर्वा बहिरेव वा।
भक्तिमत्तात्मनां नाथ सर्वथासि सुधामयः॥ २२॥

हे स्वामिन् ! सगुणरूप में अथवा निर्गुण निराकार रूप में आन्तर एवं बाह्य अर्थात् समाधि एवं व्युत्थान दोनों अवस्थावों में आप भक्ति से प्रहृष्ट आत्मा जिनकी हो गयी है। ऐसे भक्त-हृदय के लिये सब स्थिति में सुखमय ही रहते हों ॥ २२ ॥

भक्त्या मत्तः—प्रहृष्ट आत्मा येषां तेषां सर्वत्र त्वं सुधामयः। ते हि सर्वमात्मत्वेन पश्यन्ति ॥ २२ ॥

अस्मिन्नेव जगत्यन्तर्भवद्भक्तिमतः प्रति।
हर्षप्रकाशनफलमन्यदेव जगत्स्थितम् ॥ २३ ॥

हे मङ्गलकर देव ! इसी जगत् के व्यवहार में आप के भक्त के लिये हर्ष-चिदानन्द प्रकाशन फल है जिसका, ऐसा प्रकाशानन्दघन एक दूसरा ही जगत् रहता है। आशय यह है कि यह संसार अनेक दुःखों का द्वार है, किन्तु उसमें रहते हुए भी भक्तलोग उस वातावरण से दूर रहते हैं। इसलिये वे प्रकाश आनन्दघनरूपी जगत् में रहते हुए सांसारिक भावों से निर्लिप्त रहते हैं ॥ २३ ॥

सर्वजनतातिघोरे आपातमात्रे यद्यपि भक्तिमतां लोकवदेव जगद्भाति तथापि मृग्यमानमेतदेषां प्रकाशानन्दघनमेव ॥ २३ ॥

गुह्ये भक्तिः परे भक्तिर्भक्तिर्विश्वमहेश्वरे।
त्वयि शम्भो शिवे देव भक्तिर्नाम किमप्यहो ॥ २४ ॥

हे प्रकाशस्वरूप देव ! अहो ! आप के रहस्यपूर्ण स्वरूप की निर्मलभक्ति, आप परमात्मा की भक्ति विश्वात्मा महेश्वर देव की भक्ति और शम्भुनाथ परमशिव की निस्सन्देह अनुपम वस्तु है ॥ २४ ॥

गुह्ये—रहस्यरूपे, परे—पूर्णे, असाधारणनामोदीरणं निरतिशयताख्यापनाय। किमपीति—असामान्यं वस्तु ॥ २४ ॥

भक्तिर्भक्तिः परे भक्तिर्भक्तिर्नाम समुत्कटा।
तारं विरौमि तत्तीव्रा भक्तिर्मेऽस्तु परं त्वयि ॥ २५ ॥

हे देवाधिदेव ! मैं अत्यन्त तीव्रस्वर से चिल्लाता हुआ कहता हूँ कि मेरी आप परमात्मा में उद्रेक भक्ति हो। अनवच्छिन्न धारावाही भक्ति हो, वस्तुतः मैं भक्ति का ही अभिलाषी हूँ और आप में मेरी भक्ति हो ॥ २५ ॥

वीप्सा समावेशवैवश्यं प्रथयति। परं तीव्रा—धाराधिरूढा। समुत्कटा—अभ्यासाद्यनपेक्षं प्रदीप्ताग्निज्वालावज्झटित्युल्लसन्ती। युक्तं चैतत् ॥ २५ ॥

यतोऽसि सर्वशोभानां प्रसवावनिरीश तत् ।
त्वयि लग्नमनर्घं स्याद्रत्नं वा यदि वा तृणम् ॥ २६ ॥

हे ईश ! जबकि आप शिव समस्त शोभाओं की प्रसवभूमि हों, इसलिये वह रत्न ही या तुच्छ तृण ही क्यों न हो ? किन्तु आप चिदात्मा से सम्बन्धित हो जाने पर मूल्यवान् महत्त्वशाली हो जाता है ॥ २६ ॥

असि त्वं यतः सर्वासां शोभानां दीप्तीनां च प्रसवभूः अतो लोकापेक्षया यद्रत्नमस्ति—जात्युत्कृष्टं, तृणं वेति—अनुपादेयं वा, तत्त्वयि चेल्लग्नं—समावेशेन सम्बद्धं तदनर्घमेव भवति ॥ २६ ॥

आवेदकादा च वेद्याद्येषां संवेदनाध्वनि ।
भवता न वियोगोऽस्ति ते जयन्ति भवज्जुषः ॥ २७ ॥

हे ईशान ! संवेदन पथ में—संवित्संप्रदाय राजमार्ग में वेदक-ज्ञाता से ले कर वेद्य-ज्ञेयवस्तुपर्यन्त जिनका आप परमात्मा से किसी भी स्थिति में वियोग नहीं होता है, आप की प्रीतिपूर्वक सेवा करनेवाले उन भक्तों की जय हो ॥ २७ ॥

संवेदनाध्वनि—संविन्मार्गे, वेद्यवेदकक्षोभेऽपि येषां त्वया न वियोगः, ते भवन्तं प्रीत्या सेवमाना जयन्ति ॥ २७ ॥

संसारसदसो बाह्ये कैश्चित्त्वं परिरभ्यसे ।
स्वामिन्परैस्तु तत्रैव ताम्यद्भिस्त्यक्तयन्त्रणैः ॥ २८ ॥

हे स्वामिन् ! कुछ समाधिनिष्ठ सुप्रबुद्ध योगी लोग संसाररूपी सभा के सुषुप्ति आदि अवस्थाओं को छोड़ कर तुरीयदशा में इन्द्रियों की बाह्यविषयों को निवृत्त कर आप का चित्स्वरूप का चिन्तन करते हैं । किन्तु दूसरे उन्मीलन समाधिनिष्ठ प्रवुद्ध योगी लोग प्रगाढ अनुराग से ध्यान उच्चारकरणादि आयास को छोड़ कर उसी संसाररूप सभा के मध्य में ही प्रकट में सांसारिक कार्यों में सयुक्त रहते हुए भी आप में विलीन रहते हैं ॥ २८ ॥

संसारसदसो बाह्ये - संसारसभामुल्लंध्य नियत एव पदे । कैश्चिदिति—द्वादशान्तादिपदस्थैः निमीलनसमाधिपरैर्योगिभिः, परिरभ्यसे—समालिङ्ग्यसे । परैः—अनुभवतो युक्तितत्त्वज्ञतयोन्मीलनसमाधानविदग्धैः, पुनस्तत्रैव—संसारसभामध्ये एव । त्यक्तयन्त्रणैः—परिहृतध्यानोच्चारकरणाद्यायासैः । ताम्यद्भिः—गाढानुरागविवशैः, गाढानुरागिणां हीदृश्येव स्थितिः ॥ २८ ॥

पानाशनप्रसाधन-
सम्भुक्तसमस्तविश्वया शिवया।
प्रलयोत्सवसरभसया
दृढमुपगूढं शिवं वन्दे ॥ २६ ॥

संसाररूपी स्थिति का पान करना, संहार करना और सृष्टिरूप से सजावट प्रसाधन करना समस्त विश्व का भोग करनेवाली और प्रलय उत्सव से विकसिता भगवती शिवा-आद्यशक्ति से दृढालिङ्गित भगवान् परमशिव को नमस्कार करता हूँ ॥ २६ ॥

शिवया दृढमुपगूढं -परशक्त्या दृढमाश्लिष्टं, शिवं—चिद्भैरवं, वन्दे- नौमि समाविशामीति यावत्। कीदृश्या ? पानाशनप्रसाधनसम्भुक्त-समस्तविश्वया – पानेन – रक्षणेन स्थित्या, अशनेन कवलीकरणात्मना संहारेण, प्रसाधनेन- प्रकर्षेण सिद्धिसंपादिना सर्गेण च, सम्यक् भुक्तं—पलितमभ्यव-हृतं च, तथा समस्तं सम्यक् क्षिप्तं विश्वं यया तुर्यरूपया श्रेयः स्वभावया शिवया। अत एव प्रलयोत्सवेन—सृष्टिस्थितिसंहारिणामपि—संहरणात्मना-भ्युदयेन सरभसया—सातिशयं स्फुरन्त्या। तथा पानेन—साराहरणेन, अशनेन- अविशिष्टशिल्कप्रायवस्तुभक्षणेन, प्रसाधनेन—एतदवशिष्टसंस्कार-संहरणात्मना चित्प्रमातृतोत्सेकमयेन संभुक्तं—कवलितं समस्तं संस्कारशेषमपि विश्वं यया, अत एव विश्वस्य प्रलयोत्सवे सरभसया। बाह्यक्रमेणापि,-रक्तादेः पानेन, मांसादेरशनेन, अस्थ्यादेः प्रसाधनेन—भूषणताकरणेन, सम्भुक्तं—स्वोपभोगपात्रीकृतं सम्यगस्तं चात्मन्येव क्षिप्तं—समस्तं च षट्त्रिंशत्तत्त्वमयं विश्वं यया। प्रलयोत्सवे—कल्पितसंहर्तृपदप्रलीनता-करणक्रीडायां सरभसया— प्रोद्युक्तया। अनुरणनशक्त्यापि पानचर्वण-मण्डनैः सम्भुक्तं—सम्भोग्यतां नीतं समस्तं विभवरूपं विश्वं यया सुन्दर्या सा प्रकर्षेण लयोत्सवे—उभयानन्दसमापत्त्यात्मनि सरभसया सती शक्तिमन्तमाश्लिष्यन्ती भवति ॥ २६ ॥

परमेश्वरता जयत्यपूर्वा
तव विश्वेश यदीशितव्यशून्या ।
अपरापि तथैव ते ययेदं
जगदाभाति यथा तथा न भाति ।। ३० ।।

हे विश्वनाथ ! आप की अनुपम शिवस्वरूपता का जय-जयकार है, इसलिये कि यह परमेश्वरता किसी के अधीन नहीं रहनेवाली है। इसी प्रकार इसकी सदा-शिवेश्वररूपा ईश्वरता भी सर्वोत्कृष्ट है। जिसके सामर्थ्य से यह जगत् जैसे नील-सुखादि भेद से चित्रविचित्ररूप में भासित होता है, इसी प्रकार भासमान होने पर भी आप के भक्त जगत् को चित्स्वरूप से अभिन्न ही देखते हैं ।। ३० ।।

इति श्रीसर्वदर्शनाचार्यश्रीकृष्णानन्दसागरकृत-हिन्दीव्याख्या-स्तवरञ्जनी ।

हे विश्वेश ! तव अपूर्वा—परमा—प्रकृष्टा परमशिवरूपा ईश्वरता जयति । यद्—यस्मादियमीशितव्येन—भिन्नेन ईशनीयेन वस्तुना शून्या स्वात्मसात्कृताशेषविश्वत्वात् । अपरापि परमशिवापेक्षया स्थूलापि सदाशिवेश्वरूपा तव संबन्धिनीश्वरता तथैवेति—अपूर्वा जयति—इत्यर्थः, ययेदं जगद्यथेति—नीलसुखादिदेहादिभेदेन आभाति, तथा—तेनैव प्रकारेण भासमानं सत् अहन्ताप्रकाशसमरसीभूतत्वात्—

'एवमात्मन्यसत्कल्पाः प्रकाशस्यैव सन्त्यमी ।
जडाः प्रकाश एवास्ति स्वात्मनः स्वपरात्मभिः ।।'

इति स्थित्या न भाति—प्रकाश एव भगवान् सदाशिवादिरूपो भातीत्यर्थः ।। ३० ।। इति शिवम् ।।

इति श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितस्तोत्रावली पाशानुद्भेदनाम्नि षोडशे स्तोत्रे श्रीक्षेमराजाचार्यविरचिता विवृतिः ।। १६ ।।

अथ

सप्तदशं स्तोत्रम्

अहो कोऽपि जयत्येष स्वादुः पूजामहोत्सवः ।
यतोऽमृतरसास्वादमस्रूण्यपि ददत्यलम् ॥ १ ॥

अहो ! इस अनुभव साक्षिक अद्वितीय आनन्दमय समावेशात्मक शिवपूजन-महोत्सव को जय हो, जबसे कि ये बहे हुए आँसू भी चिदानन्दरूपी सुधारस के आस्वादन को भली प्रकार से देते हैं ॥ १ ॥

एष इति—अनुभवसाक्षिकः । स्वादुः—आनन्दमयः । कोऽपीति—समावेशात्मा पूजामहोत्सवो जयति । यतः—पूजामहोत्सवात्, अस्रूणि—बाष्पा अपि अमृतास्वादमलं ददति—आनन्दप्रभवत्वाच्चमत्कारमेव पुष्णन्ति ॥ १ ॥

व्यापाराः सिद्धिदाः सर्वे ये त्वत्पूजापुरःसराः ।
भक्तानां त्वन्मयाः सर्वे स्वयं सिद्धय एव ते ॥ २ ॥

हे परमशिव ! आपकी पूजा सम्बन्धी जो कर्म भक्तजनों के द्वारा किये जाते हैं । किन्तु ये सब समावेशात्मक भक्तिमार्ग के अनुगामो लोगों के लिये सारे पूजा के कर्म आप से अभिन्नता प्राप्त करना स्वयमेव सिद्धियाँ होती हैं ॥ २ ॥

ये त्वत्पूजोपक्रमव्यापारास्ते तावत्सिद्धिदाः । भक्तानां तु साक्षात् त एव सिद्धयः—त्वन्मयत्वेन प्रकाशमानत्वात् ॥ २ ॥

सर्वदा सर्वभावेषु युगपत्सर्वरूपिणम् ।
त्वामर्चयन्त्यविश्रान्तं ये ममैतेऽधिदेवताः ॥ ३ ॥

हे परमात्मन् ! जो लोग सदैव सभी वस्तुओं में निरन्तर समस्त रूपादिकों में व्यापक रूप से रहनेवाले आप परमशिव की पूजा करते हैं, वे मेरे लिए अधिष्ठातृदेवता के रूप में हैं ॥ ३ ॥

युगपत्सर्वरूपिणम्—अक्रमक्रोडीकृताशेषनिर्भरं त्वां सर्वकालं सर्वत्र ये अविश्रान्तं कृत्वा अर्चयन्ति ते मम अधिष्ठातृदेवतारूपाः ॥ ३ ॥

ध्यानायासतिरस्कारसिद्धस्त्वत्स्पर्शनोत्सवः ।
पूजाविधिरिति ख्यातो भक्तानां स सदास्तु मे ॥ ४ ॥

हे शरणद शिव ! ध्यान-उपच्चार आदि बाह्यसाधनों के आयास को छोड़ करके सिद्धि प्रदायक जो आपके संस्पर्श का समावेशात्मक महोत्सव है, वही भक्तजनों के लिये पूजाविधि इस नाम से प्रसिद्ध है यही चिदानन्दरस महोत्सव मुझ किंकर को सदैव प्राप्त होता रहे। जैसा कि विज्ञान भैरव में कहा गया है– पुष्प, धूप, गन्ध आदि ब्राह्य साधनों के द्वारा पूजा नहीं की जाती हैं, किन्तु निर्विकल्प महाकाश अर्थात् परचिदाकाश वाले भैरव के प्रति विशुद्ध एकनिष्ठवृत्ति होना ही पूजा है। अत एव श्रद्धापूर्वक उक्तभावना का हृदय में निरन्तर अनुचिन्तन करने से परमभाव की प्राप्ति हो जाती है ॥ ४ ॥

ध्यानमुच्चारकरणादीनप्युपलक्षयति। तेन उच्चारकरणध्यानाद्यायासस्य तिरस्कारेण—अपहस्तनेन यस्त्वत्स्पर्शनोत्सवः सिद्धः—प्रयत्नसम्पन्नः, स एव भक्तानां पूजाविधिरिति ख्यातः। यथोक्तं—

'निर्विकल्पे महाव्योम्नि सा पूजा ह्यादराल्लयः ॥'

वि० भै०, श्लो० १४७ ॥

इत्येवम्। स एव पूजाविधिर्मम सदास्तु ॥ ४ ॥

भक्तानां समतासारविषुवत्समयः सदा ।
त्वद्भावरसपीयूषरसेनैषां सदार्चनम् ॥ ५ ॥

हे परमशिव ! भक्तों के लिए समता-शिव से अभिन्नता है सार जिसका ऐसा विषुवत् [ज्योतिष के अनुसार सूर्य विषुवत् रेखा पर केन्द्रित होता है इससे दिन एवं रात्रि का काल एक सम हो जाता है] संज्ञक समय ही सदैव बना रहता है और इन भक्तजनों के लिए आप परमात्मा की भक्तिरूपी अमृतरस से सदैव हुआ करती है। आशय यह है कि आप की समावेशात्मिका निर्मल भक्ति करनेवाले भक्तवृन्द तो प्रतिक्षण पूजामहोत्सव में संलग्न रहते हैं। अतः उनके लिये तो सारा समय ही विषुवत्-सा ही है ॥ ५ ॥

विषुवति पूजा कर्त्तव्यत्वेनाम्नाता, स च विषुवत्समयः शिवैक्यप्रथात्मसमतासारो भक्तानां सदैवास्ति, तथा त्वद्भावनारस एव पीयूषरसः, तेन सदैषामर्चनमस्ति ॥ ५ ॥

यस्यानारम्भपर्यन्तौ न च कालक्रमः प्रभो ।
पूजात्मासौ क्रिया तस्याः कर्तारस्त्वज्जुषः परम् ॥ ६ ॥

हे प्रभवनशील देव ! जिस पूजा के आरम्भ, मध्य और अवसान का कालक्रम नहीं रहता है। वस्तुतः वही चित्समावेशात्मक पूजा की क्रिया विधि है। आप से अभिन्नभाव को प्राप्त हुए भक्तवृन्द ही उस विधि को पूर्णतया करने वाले देखे जाते हैं ॥ ६ ॥

न च कालक्रम इति—मध्येऽपि क्रमवत्ता नास्ति। असौ समावेशविश्रान्त्यात्मा क्रिया। तस्याश्च त्वज्जुषः त्वत्समावेशतत्त्वज्ञा एव परं कर्तारो नान्ये ॥ ६ ॥

ब्रह्मादीनामपीशास्ते ते च सौभाग्यभागिनः ।
येषां स्वप्नेऽपि मोहेऽपि स्थितस्त्वत्पूजनोत्सवः ॥ ७ ॥

हे ईश ! वे चित्स्वरूप समाविष्ट भक्त लोग ब्रह्मा आदि देवों के भी ईश्वर होते हैं और वे परम सौभाग्यशाली होते हैं; इसलिए कि ये लोग स्वप्न और मोहकाल में भी आप की समावेशात्मक पूजा महोत्सव में संलग्न रहते हैं अर्थात् वे केवल जाग्रत् अवस्था में ही नहीं अपि तु स्वप्न एवं सुषुप्ति अवस्थाओं में भी चित्समावेशदशा में समाहित रहते हैं ॥ ७ ॥

निःसामान्यमहेश्वरसमावेशशालित्वात् ब्रह्मादीनामपीश्वरास्ते—इति वस्त्वेवैतत् न त्वर्थवादः। सौभाग्यभागिन इति—आनन्दरसनिर्भरत्वात् सर्वस्पृहणीयाः। स्वप्नेऽपि मोहेऽपीति—न केवलं जाग्रति यावत्स्वप्नसुषुप्तयोरिति स्वरसोदितस्त्वत्स्पर्शनोत्सवः—त्वत्समावेशाभ्युदयः ॥ ७ ॥

जपतां जुह्वतां स्नातां ध्यायतां न च केवलम् ।
भक्तानां भवदभ्यर्चामहो यावद्यदा तदा ॥ ८ ॥

हे परमशिव ! अहो ! भक्तजनो के लिए आप की चित्समावेशात्मिका अभ्यर्चना का महोत्सव न केवल जप, हवन, और स्नान ध्यानकाल में ही हुआ करता है, किन्तु सभी अवस्थाओं में मीन स्नानवत्' निरन्तर होता रहता है ॥ ८ ॥

जपध्यानादिपदे तावदीश्वरपूजापरा भवन्ति । भक्ता पुनः सदैव त्वत्पूजनोत्सवाविष्टाः ॥ ८ ॥

भवत्पूजासुधास्वादसम्भोगसुखिनः सदा ।
इन्द्रादीनामथ ब्रह्ममुख्यानामस्ति कः समः ॥ ९ ॥

हे परमशिव ! जो लोग आपकी समावेशात्मक पूजारूपी सुधापान के संभोग-चमत्कार से सुखी हैं। इस विश्वमण्डल में इन्द्रादि देवता और साक्षात् ब्रह्मा आदि मुख्य देवताओं में उनके समान कौन है ? ॥ ९ ॥

भवत्पूजैव सुधास्वादसंभोगरते न यः सुखी भक्तिमान्, तस्य ब्रह्मादीनां मध्यात् कः समः ? न कश्चित् । अत्र युक्तिरुक्तैव ॥ ९ ॥

जगत्क्षोभैकजनके भवत्पूजामहोत्सवे ।
यत्प्राप्यं प्राप्यते किंचिद्भक्ता एव विदन्ति तत् ॥ १० ॥

हे उमाकान्त ! षट्त्रिंशत्तमय स्थूल-सूक्ष्म आदि शरीर के रूप में विद्यमान इस जगत् के संहार का एकमात्र कारण है, ऐसे आप की स्वरूप विमर्शात्मक पूजारूपी महोत्सव पर जो कुछ परमानन्दात्मक अद्वितीय प्राप्त करने योग्य वस्तु प्राप्त की जाती है, वे लोग ही उस वस्तु को अच्छी तरह जानते हैं, दूसरे नहीं ॥ १० ॥

जगतः—षट्त्रिंशत्तत्त्वमयस्य स्थूलसूक्ष्मादेर्देहस्य तद्द्वारेण च विश्वस्य, क्षोभं—विगलत्स्वरूपतया वैवश्यमेको जनयति यो भवत्पूजा-महोत्सवः, तत्र यत्किंचित्परमानन्दात्मकं पूर्णं स्वं स्वरूपं प्रापणार्हं प्राप्यते तद्भक्ता एव विदन्ति ॥ १० ॥

त्वद्धाम्नि चिन्मये स्थित्वा षट्त्रिंशत्तत्त्वकर्मभिः ।
कायवाक्चित्तचेष्टाद्यैरर्चये त्वां सदा विभो ॥ ११ ॥

हे सर्वव्यापक देव ! मैं आपके चिन्मयधाम-प्रकाश पर स्थित हो कर मन, वाणी एवं शरीरसम्बन्धी चेष्टा-व्यापार पूर्व से षड्त्रिंशत् तत्त्वसमूह के कर्मों के द्वारा निरन्तर आप पूजता रहूँ ॥ ११ ॥

धाम—तेजः । षट्त्रिंशत्तत्त्वानां कर्माणि कायवाक्चित्तचेष्टाख्यानि, तैः—इत्थं प्रत्यभिज्ञातव्याप्तिकैरहं प्रभो त्वां सदा अर्चये । देहादि षट्त्रिंशत्तत्त्वमयं कठिनत्वद्रवत्वप्रकाशमानत्वादागमेषु बहु प्रतिपादितम् । तथा च त्रिशिरःशास्त्रे—

'सर्वदेवमयः कायः.........।'

इत्युपक्रम्य

'पृथिवी कठिनत्वेन द्रवत्वेऽम्भः प्रकीर्तितम् ।'

इत्यादि

'त्रिशिरो भैरवः साक्षाद्व्याप्य विश्वं व्यवस्थितः ॥'

इत्यन्तमुपदिष्टम् ॥ ११ ॥

भवत्पूजामयासङ्गसम्भोगसुखिनो मम ।
प्रयातु कालः सकलोऽप्यनन्तोऽपीयदर्थये ॥ १२ ॥

हे विश्ववन्द्य देव ! आपकी पूजा में तत्पर रहने के चमत्कार से मैं सदैव सुखी बना रहूँ और इस प्रकार से मेरे जीवन का सारा समय व्यतीत हो जाये फिर वह काल अनन्त अवधिपर्यन्त हो, बस यही मेरी अन्तिम प्रार्थना है ॥ १२ ॥

भवत्पूजामयो य आसङ्गः तेन तत्परत्वेन यः सम्भोगस्तेन सुखिनः—निर्वृतस्य मे सकलः—निरवशेषः अनन्तः—निरवधिः कालः प्रयात्विति इयदर्थये न त्वन्यत् ॥ १२ ॥

भवत्पूजामृतरसाभोगलम्पटता विभो ।
विवर्धतामनुदिनं सदा च फलतां मम ॥ १३ ॥

हे विभो ! आप की चित्समावेशात्मक अर्चनारूपी सुधारस के चमत्कार के लिए मेरी उत्कण्ठा प्रतिदिन बढ़ती रहे और वह सफलता के अन्तिम सीमा को पहुँच कर सदा पुष्पित-पल्लवित होती रहे ॥ १३ ॥

यावद्यावद्भवत्पूजामृतरससभोगो मया प्राप्यते तावत्तावदधिकमधिकं तत्र स्पृहयालुता मे विवर्धतां, तदुत्कर्षसमासादनफलेन च सदा फलतु ॥ १३ ॥

जगद्विलयसञ्जातसुधैकरसनिर्भरे ।
त्वदब्धौ त्वां महात्मानमर्चन्नासीय सर्वदा ॥ १४ ॥

हे स्वामिन् ! मैं मायीय भेदप्रथात्मक विश्वप्रपञ्च के विलय से समुत्पन्न हुए सुधामय चिदानन्दरूपी अद्वैतरस से परिपूर्ण ज्ञानसागर में सदैव आप परमात्मा की ही अर्चना-विमर्शरूपिणी पूजा करता हुआ ही स्थित रहूँ ॥ १४ ॥

जगतः—विश्वस्य विलयेन—संहारेण जातो यः सुधामय एको रसः, तेन निर्भरे—परिपूर्णे त्वत्समुद्रे त्वामेव महात्मानं—विश्वव्यापकं सदा अर्चन् अहमासीय स्थेयाम् ॥ १४ ॥

अशेषवासनाग्रन्थिविच्छेदसरलं सदा ।
मनो निवेद्यते भक्तैः स्वादु पूजाविधौ तव ॥ १५ ॥

हे करुणाकर देव ! आप की पूजनविधि में भक्तजन समस्त विषयवासनारूपी ग्रन्थियों के विच्छेदन से सरल बना हुआ चमत्कार-सा मन सदैव समर्पित करते हैं ॥ १५ ॥

तव पूजाविधौ भक्तैः, स्वादु—चमत्कारसारं सदा मनो निवेद्यते—त्वय्येवार्प्यते । कीदृक् ? अशेषा ये वासनात्मानो ग्रन्थयो—बन्धास्तेषां विच्छेदेन—विदलनेन सरलं—स्पष्टं; त्यक्तकुसृतिकौटिल्यम् ॥ १५ ॥

अधिष्ठायैव विषयानिमाः करणवृत्तयः ।
भक्तानां प्रेषयन्ति त्वत्पूजार्थममृतासवम् ॥ १६ ॥

हे परमशिव ! शिवस्वरूप में समाविष्ट हुए भक्तजनों के लिये तो ये नेत्रादि इन्द्रियों की वृत्तियाँ अर्थात् अधिष्ठातृदेवियों शब्दादि विषयों का सेवन करते ही आप की पूजा के निमित्त अमृतमय आसव-मधु भेजती है ॥ १६ ॥

इमा करणवृत्तयोऽपि—चक्षुरादिदेव्यः, विषयान्—रूपादीन् अधिष्ठायैव—आक्रम्यैव, सृष्टिरक्षादिदेवतोदयक्रमेण भक्तानां त्वत्पूजार्थमन्तर् अमृतासवं प्रेषयन्ति ॥ १६ ॥

भक्तानां भक्तिसंवेगमहोष्मविवशात्मनाम् ।
कोऽन्यो निर्वाणहेतुः स्यात्त्वत्पूजामृतमज्जनात् ॥ १७ ॥

हे परमशिव ! चित्स्वरूप समावेशात्मक भक्ति की वेगवती पूर्वक उद्रिक्तभावना के महान् संवित्प्रकाश से स्वरूपदर्शनार्थ व्याकुल रहता है चिदात्मा जिसका, ऐसे भक्तजनों के निर्वाण-आत्मविश्रान्ति के निमित्त आप की पूजारूपी अमृत में मज्जन के अतिरिक्त दूसरा कौन-सा उपाय हो सकता है ? ॥ १७ ॥

भक्तिसंवेगमहोष्मा—भक्त्युद्रिक्ततेजस्तेन विवशात्मनां—प्रज्वलितात्मनां त्वत्पूजामृतमज्जनादन्यो निर्वाणहेतुर्न कश्चित् ॥ १७ ॥

सततं त्वत्पदाभ्यर्चासुधापानमहोत्सवः ।
त्वत्प्रसादैकसम्प्राप्तिहेतुर्मे नाथ कल्पताम् ॥ १८ ॥

हे भक्तवत्सल शिव ! जो आप की प्रसन्नता का एक मात्र उपाय है वही आपके पावन चरणारविंद की अभ्यर्चारूपी सुधापान का महोत्सव मुझ अनाथ को सदैव मिलता रहे ॥ १८ ॥

त्वत्पदाभ्यर्चा—प्राग्वत्, सैव आनन्दव्याप्तिप्रदत्वात् सुधापान-महोत्सवः । कीदृक् ? त्वत्प्रसादस्य—चिदानन्दात्मकत्वत्स्वरूपनैर्मल्यस्य एकः संप्राप्तिहेतुर्यः स मे सततं कल्पताम्—घटताम् ॥ १८ ॥

अनुभूयासमीशान प्रतिकर्म क्षणात्क्षणम् ।
भवत्पूजामृतापानमदास्वादमहामुदम् ॥ १६ ॥

हे ईशान ! मैं आपकी अर्चनारूपी अमृत पान के मद से चमत्कार से मिलने-वाले महामुद-परमानन्द के प्रत्येक कर्म का प्रतिक्षण अनुभव करता रहूँ ॥ १६ ॥

प्रतिकर्म—प्रतिव्यापारम् । क्षणात्क्षणं—भूयो भूयः । भवत्पूजामृता-पानस्य सम्बन्धी मदप्रधानः—हर्षबहलः, आस्वादस्तदुत्थां महामुदं—परमानन्दमनुभूयासम् । आमुखे मदः, पर्यन्ते महती मुत् पूजास्वादस्य च ॥१६॥

इष्टार्थ एव भक्तानां भवत्पूजामहोद्यमः ।
तदैव यदसम्भाव्यं सुखमास्वादयन्ति ते ॥ २० ॥

हे भगवन् ! भक्तजनों के लिये आप की सेवा पूजा का महान् उद्योग प्रत्यक्ष-रूप में फल प्रदायक होता है, इसलिये कि वे उस काल में ही असम्भाव्य अलौकिक निजानन्द सुख का अनुभव करते हैं ॥ २० ॥

प्राप्तव्यस्य प्राप्तत्वान्नैषामाकाङ्क्षा क्वचिदस्ति यतस्ततो भक्तानां दृष्टार्थ एव त्वत्पूजायां महानुद्यमः । तथाहि तदैव—पूजासमय एव, असंभाव्यं सुखं—परमानन्दं ते भक्ता आस्वादयन्ति ॥ २० ॥

यावन्न लब्धस्त्वत्पूजासुधास्वादमहोत्सवः ।
तावन्नास्वादितो मन्ये लवोऽपि सुखसम्पदः ॥ २१ ॥

हे शरणागतवत्सल शिव ! जब तक चित्समावेशात्मक पूजारूपी अमृत के रसास्वादन का महोत्सव उपलब्ध न किया जाय, तब तक निजानन्द की सम्पदा का लेशमात्र भी अनुभव नहीं हो सकता है, ऐसा मेरा मानना है ।। २१ ।।

लवोऽपीत्यत्रेदमाकूतं—लौकिकानि सुखानि असुखान्येव कृत्रिमत्वात्, यस्त्वकृत्रिमः समावेशानन्दः सैव परमार्थिकी सुखसम्पत् ॥ २१ ॥

भक्तानां विषयान्वेषाभासायासाद्विनैव सा ।
अयत्नसिद्धं त्वद्धामस्थितिः पूजासु जायते ।। २२ ।।

हे देव ! भक्तों को तो समावेश अवस्था में अयत्न ही सिद्ध होनेवाली आपके चिद्रूपी दिव्यधाम में वह स्वस्वरूपभूत लोकोत्तर स्थिति बाह्य पूजन सामग्री के अन्वेषण आभास—प्रतीति का दुःख उठाये बिना ही सुलभ हो जाती है ।। २२ ।।

पूजासु—समावेशकालेषु ध्यानादियत्नं विना सिद्धं प्रस्फुरन्ती त्वद्धाम्नि स्थितिः, सेति—लोकोत्तरा भक्तानां जायते । कथं ? विषयाणां—कुसुमधूपविलेपनादीनाम् अन्वेषाभासः—मार्गणप्रतीतिः, स एवायासः, तं विनैव—तद्विहेणेत्यर्थः ॥ २२ ॥

न प्राप्यमस्ति भक्तानां नाप्येषामस्ति दुर्लभम् ।
केवलं विचरन्त्येते भवत्पूजामदोन्मदाः ।। २३ ।।

हे परमशिव ! शिवस्वरूप समाविष्ट भक्तजनों के लिये न तो कुछ प्राप्य है और नहीं इनके लिये कुछ त्रिलोकी में दुर्लभ हैं, किन्तु ये लोग आप की पूजा—समावेशदशा के मद से उन्मद हो कर केवल प्रारब्धानुसार विचरण करते हैं ।। २३ ।।

पूर्णशिवात्मकस्वस्वरूपलाभाद्भक्तानां प्रापणीयं दुर्लभं वा न किंचिदस्ति । भक्ताः सेवाक्षीवाश्च केवलमप्रयोजनमेव विचरन्ति ।। २३ ।।

अहो भक्तिभरोदारचेतसां वरद त्वयि ।
श्लाघ्यः पूजाविधिः कोऽपि यो न याच्ञाकलंकितः ।। २४ ।।

हे वरद ! वस्तुतः भक्तिरस के उद्रेक से उदार हृदय वाले भक्तों के द्वारा की हुई आपकी समावेशरूपी पूजाविधि एक लोकोत्तर श्लाघनीय है, इसलिए कि वह याचना के दोष से कलङ्कित नहीं होती है आपके भक्त इतने उदार होते हैं कि आप जैसे उदारदाता से कुछ भी अभिलाषा नहीं रखते हैं ॥ २४ ॥

उदारचेतस्त्वं तत्त्वत एषामेव, ये वरदमपि त्वां न किंचन याचन्ते।
कोऽपीति—अलौकिकः॥ २४॥

का न शोभा न को ह्लादः का समृद्धिर्न वापरा।
को वा न मोक्षः कोऽप्येष महादेवो यदर्च्यते॥ २५॥

हे शिव! जिस इस अद्भुत भगवान् शङ्कर की आराधना की जाती है। उसमें कौन-सी शोभा नहीं होती है, कौन-सा आनन्द नहीं होता है तथा कौन-सी सर्वोत्कृष्ट समृद्धि नहीं होती है अथवा कौन-सी मुक्ति नहीं होती है॥ २५॥

कोऽपीति चिदात्मा महेश्वरो यदर्च्यते, सा शोभा—दीप्तिः का न—सर्वैवेत्यर्थः। एवमन्यत्। को वा न मोक्ष इति—साङ्ख्यवैष्णवशाक्तनाकुलपाशुपतादिमोक्षातिशायिनः परमानन्दसारस्य विश्वपरिपूर्णतामयस्य मोक्षस्य लाभात्॥ २५।

अन्तरुल्लसदच्छाच्छभक्तिपीयूषपोषितम्।
भवत्पूजोपयोगाय शरीरमिदमस्तु मे॥ २६॥

हे परमशिव! अन्तस्थित संवित्पद से उल्लसित हुए विश्व को प्रतिबिम्बित करने में सक्षम अतीव स्वच्छ चित्समावेशरूपी भक्तिसुधा से पोषित यह मेरा पाञ्चभौतिक शरीर आप की आराधना के लिए समर्पित हो जाये॥ २६॥

अन्तः—संवित्पदे उल्लसता अच्छाच्छेन—विश्वप्रतिबिम्बक्षमेण भक्तिपीयूषेण- समावेशामृतेन पोषितं—पारदेन ताम्रमिव कालिकाक्षपणेन देदीप्यमानं कल्याणमयीकृतमिदं मम शरीरं भवत्पूजोपयोगायास्तु—समावेशरसविद्धमपि त्वय्येव चिदानन्दघनेऽनुप्रविश्य विलीयताम्॥ २६॥

त्वत्पादपूजासम्भोगपरतन्त्रः सदा विभो।
भूयासं जगतामीश एकः स्वच्छन्दचेष्टितः॥ २७॥

हे सर्वव्यापक शिव! हे त्रिलोकी के स्वामिन्! मैं अद्वितीय सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र व्यापार करने वाला होता हुआ भी सदैव आप के चरण-कमलों की आराधना का सुख लेने में परतन्त्र ही बना रहा हूँ॥ २७॥

जगतां—कालाग्न्यादिसदाशिवान्तानाम् ईशः—स्वामी । स्वतन्त्रोऽस्वत्पादपूजाह्लादपरतन्त्रः स्याम् । एतदेव हि तदसाधारणं जगदैश्वर्यं स्वातन्त्र्यं च यत् त्वत्पादसमावेशवैवश्यम् । अन्यापदे पारतन्त्र्येऽपि निःसामान्यमैश्वर्यं स्वातन्त्र्यं चेत्यद्भुतरसध्वनिः ॥ २७ ॥

त्वद्ध्यानदर्शनस्पर्शतृषि केषामपि प्रभो ।
जायते शीतलस्वादु भवत्पूजामहासरः ॥ २८ ॥

हे प्रभवनशील देव ! आपके चित्स्वरूपविषयक ध्यानचिनन्त में दर्शन एवं संस्पर्श की उत्कण्ठा होने पर कुछ लोगों के लिए तापत्रय की निवृत्ति करनेवाले शीतल और चिदानन्दप्रदायक होने से अत्यन्त मधुर समावेशात्मक उपासनारूपी विशाल सरोवर आप से उत्पन्न होता है जिसके समीप जाते ही भक्तों की तृषा शान्त हो जाती है ॥ २८ ॥

परमेश्वरं चिदानन्दघनमपि पश्येयं, स्पृशेयम्—इति यत्त्वद्ध्याने दर्शनस्पर्शनतृट्, तस्यां सत्यां केषामपीति—साक्षात्त्वदनुगृहीतानां शीतलस्वादु भवत्पूजामहासरा जायते—सन्तापहारिसचमत्कारत्वदर्चापरिपूर्णः समुद्रो नव एवोत्पद्यते इत्यर्थः ॥ २८ ॥

यथा त्वमेव जगतः पूजासम्भोगभाजनम् ।
तथेश भक्तिमानेव पूजासम्भोगभाजनम् ॥ २९ ॥

हे परमेश्वर ! जिस प्रकार इस जगत् नें आप ही उपासनारूपी पूजा के आनन्द का एकमात्र पात्र है। इसी प्रकार चित्समाविष्ट भक्तजन ही पूजा के आनन्द का एकमात्र अधिकारी है ॥ २९ ॥

जगतः—विश्वस्य मध्यात् त्वमेव व्याख्यातरूपस्य पूजासम्भोगस्य भाजनम्—आश्रयो यथा ईश—स्वामिन्, तथा भक्तिमानेव—समावेशशाल्येव तादृशः पूजासम्भोगस्य भाजनं—निर्वर्तक इत्यर्थः ॥ २९ ॥

कोऽप्यसौ जयति स्वामिन्भवत्पूजामहोत्सवः ।
षट्त्रिंशतोऽपि तत्त्वानां क्षोभो यत्रोल्लसत्यलम् ॥ ३० ॥

हे स्वामिन् ! वह एक लोकोत्तर आप परमशिव की समावेशात्मक पूजा का महोत्सव है उसका सदैव जय-जयकार हो, जिसमें षट्त्रिंशतत्त्व अर्थात् छत्तीस तत्त्वों का भी क्षोभ–संविद्रूपी वह्निज्वाला में विदग्ध हो कर पूर्णतया चमक उठता है ।.३०॥

कोऽपीति—समावेशशाली, असाविति—स्वामिनि स्फुरितः, षट्-त्रिंशतोऽपीति—देहाश्रयाणां तद्द्वारेण तद्बाह्यानां तत्त्वानां, क्षोभ इति—संविदग्निप्लोषवैषम्यम् ॥ ३० ॥

नमस्तेभ्यो विभो येषां भक्तिपीयूषवारिणा ।
पूज्यान्येव भवन्ति त्वत्पूजोपकरणान्यपि ॥ ३१ ॥

हे विभो ! जिनके लिए आप परमात्मा की समावेशरूपी पूजा के निमित्त कुसुमादि साधन समूह भी भक्तिसुधारूपी जल से आप्लावित होकर चिदानन्दस्वरूप को अभिव्यक्त करने में सहयोगी होते हैं। वस्तुतः वे सब अर्चनीय ही बन जाते हैं। अतः उनके प्रति हमारा नमस्कार हो ॥ ३१ ॥

त्वत्पूजार्थमुपकरणानि—कुसुमादीनि येषां भक्तिपीयूषवारिणा—समावेशामृतरसेन हेतुना पूज्यानि भवन्ति—त्वदाप्लावनेन शिवताभिव्यक्तेः पूजार्हाणि जायन्ते, तेभ्यो नमः ॥ ३१ ॥

पूजारम्भे विभो ध्यात्वा मन्त्राधेयां त्वदात्मताम् ।
स्वात्मन्येव परे भक्ता मान्ति हर्षेण न क्वचित् ॥ ३२ ॥

हे सर्वान्तर्यामिन् शिव ! समावेशात्मक पूजा के प्रारम्भकाल में मननत्राणरूपी मन्त्र से सिद्ध होने वाले आप के चिद्रूप का ध्यान कर भक्तलोग बड़े हर्ष के साथ अपने ही चिदात्मा में कभी फूले नहीं समाते हैं ॥ ३२ ॥

मन्त्रेण—मननत्राणधर्मेण चिन्माहात्म्यप्रकर्षकेण आध्यातव्यां—

'शिवो भूत्वा......।' शि० स्तो०, स्तो० १, १४ श्लो० ॥

इति स्थित्या सम्पाद्यां त्वदात्मतां पूजारम्भे ध्यात्वा—चिन्तयित्वा मन्त्रोच्चिचारयिषात्मकपूजाप्रविवृत्सायामेव—

'अयमेवोदयस्तस्य......।' स्पं० नि० २, श्लो० ६ ॥

इति स्थित्या भक्तिप्रकर्षाच्छिवीभूय भक्ताः स्वात्मन्येव परे—पूर्णरूपे न मान्ति—न वर्तन्ते ॥ ३२ ॥

राज्यलाभादिवोत्फुल्लैः कैश्चित्पूजामहोत्सवे ।
सुधासवेन सकला जगती संविभज्यते ॥ ३३ ॥

हे प्रभवनशील देव! चित्स्वरूपात्मक महाविकास के हेतु से भैरवीमुद्रा अनुप्रवेश के कारण अत्यन्त आनन्दातिरेक अवस्था से युक्त कुछ भक्तलोग पूजा के महोत्सव पर समस्त वेद्य-वेदक के आश्रयभूत जगत् को सुधारूपी आसव-मधु का भागी बना देते हैं। जैसे साम्राज्य की प्राप्ति से अत्यन्त प्रसन्न हुए राजा लोग राज्यसिंहासन के महोत्सव पर सारे राज्यमण्डल के सदस्यों को मधुपान का अधिकारी बनाते हैं। अर्थात् अपने सभी मन्त्री-सामन्तों को मधुपान से तृप्त कर देते हैं ॥ ३३ ॥

उत्फुल्लैरिति—महाविकासयुक्तया श्रीभैरवीयमुद्रानुप्रविष्टैः, सुधासवेन—अमृतपानेन, जगती—समस्ता वेद्यवेदकभूः, संविभज्यते—परिपूर्यते; स्वानन्दमयीक्रियते। राज्यलाभोत्फुल्लैश्चोत्सवे सर्वा भूः आसवेन संविभज्यते इति स्पष्टम् ॥ ३३ ॥

पूजामृतापानमयो येषां भोगः प्रतिक्षणम् ।
किं देवा उत मुक्तास्ते किं वा केऽप्येव ते जनाः ॥ ३४ ॥

हे परमशिव! जिन लोगों को आप की पूजारूपी अमृतपान की सुखानुभूति प्रतिक्षण प्राप्त होती है। वे लोग क्या देवता होते हैं अथवा विमुक्त महापुरुष होते हैं किंवा वे विलक्षण पुरुष ही होते हैं? ॥ ३४ ॥

भोगः – चमत्कारः। प्रतिक्षणमिति—अविच्छेदेन। केऽप्येवेति—स्तोत्रशतैरपि स्तोतुमशक्याः ॥ ३४ ॥

पूजोपकरणीभूतविश्वावेशेन गौरवम् ।
अहो किमपि भक्तानां किमप्येव च लाघवम् ॥ ३५ ॥

बड़े आश्चर्य की बात यह है कि—चित्समावेशशाली भक्तवृन्द को परमात्मा की पूजा की सामग्री का रूप बने हुए विश्व में समाहित हो जाने से असामान्य गौरवता-गुरुता प्राप्त होती है और समस्त मायीय द्वैतभाव के गल जाने से असामान्य ही लघुता प्राप्त होती है ॥ ३५ ॥

पूजायां यदुपकरणीभूतं—परिकरीभूतं विश्वं—षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपं शरीरं बाह्यं च, तस्य य आवेशः—चिद्भूमावनुप्रवेशस्तेन। अत अहो—आश्चर्यं, किमपि—असामान्यं भक्तानां गौरवं—प्रभावितत्वं लाघवं च—अप्रयत्नेनैवाशेषस्वकारित्वम्, अथ च मायीयभेदभारनिवृत्तिः। गौरवे च कथं लाघवमिति विरोधच्छाया ॥ ३५ ॥

पूजामयाक्षविक्षेपक्षोभादेवामृतोद्गमः ।
भक्तानां क्षीरजलधिक्षोभादिव दिवौकसाम् ॥ ३६ ॥

हे शिव ! यद्यपि आप के भक्तजनों की श्रोत्रादि इन्द्रियाँ अपने अपने विषयोन्मुख रहती हैं तथापि प्रतिक्षण आप की पूजा-उपासना में ही लगी रहती हैं, इस प्रकार विक्षेप एवं व्याकुलता से ही चिदानन्दरूपी अमृत की उत्पत्ति होती है। जैसे देवताओं के लिए क्षीर सागर का मन्थन काल में पूजनीय नागराज वासुकि की नेत्रादि इन्द्रियाँ विक्षेप एवं प्रक्षोभ के कारण ही अमृत की उत्पत्ति हुई है ॥ ३६ ॥

पूजामयानि विश्वस्य—संवेद्यस्य चिद्भूमिविश्रान्तिदायीनि देवताचक्रोदयमयानि अक्षाणि—इन्द्रियाणि, तेषां विक्षेपः—स्वविषयग्रहणपरत्वं, स एव क्षोभः—व्याकुलता, तत एवाल्पबोधापेक्षया अभिमतादपि क्षोभात् भक्तानाममृतस्य—महानन्दस्य उद्गमः—उल्लासो ग्राह्यग्राहकविप्लवेऽपि भक्तानां चिदानन्दाभिव्यक्तिरेवेत्यर्थः। तदुक्तं —

'ग्राह्यप्रवृत्तावपि तत्स्वभावः।'

इति। यथा देवतानां क्षीरसमुद्रक्षोभादमृतस्य—सुधाया उल्लासः। अत्रापि पूजामयस्य—पूज्यस्य नागराजात्मनः अक्षस्य—नेत्रस्य यो विक्षेपः—आकर्षापकर्षक्रमः, स एव क्षोभ इति ॥ ३६ ॥

पूजां केचन मन्यन्ते धेनुं कामदुघामिव ।
सुधाधाराधिकरसां धयन्त्यन्तर्मुखाः परे ॥ ३७ ॥

हे कामेश्वर नाथ ! कुछ फलाभिलाषी लोग आपकी पूजा को समस्त संकल्पजन्य मनोरथ को देनेवाली कामधेनु के समान समझते हैं। परन्तु मुझ जैसे भक्तजन तो अन्तर्मुखवृत्ति कर सुधाधारा से बढ़ चढ़ कर रस से भरी हुई उस पूजारूपिणी कामधेनु का दुग्ध पीते हैं ॥ ३७ ॥

यथा कामधेनुरभीष्टमत्यर्थं पूरयति तथा केचित्—फलकाङ्क्षिणः पूजां मन्यन्ते—निश्चिन्वन्ति। परे—केचिदेव सुधाधाराधिकः—अमृतधारातिशायो रसः प्रसरो यस्यास्तां पूजामेव कामधेनुमन्तर्मुखाः सन्तो धयन्ति—सद्य एव चमत्कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ ३७ ॥

भक्तानामक्षविक्षेपोऽप्येष संसारसंमतः ।
उपनीय किमप्यन्तः पुष्णात्यर्चामहोत्सवम् ॥ ३८ ॥

हे परमेश्वर ! सांसारिक दृष्टिकोण से सम्मत यह इन्द्रियों का विक्षेप-चेष्टा-व्यापार भी भक्तों के लिये हृदय में कुछ विलक्षणभाव से युक्त पूजा महोत्सव को प्राप्त कराकर उस उत्सवजनित सुखानुभूति को बढ़ाता है ॥ ३८ ॥

अक्षविक्षेपः—इन्द्रियप्रसरो लोके संसारत्वेन संमतः, किमपीति—अलौकिकमानन्दरूपम्, उपनीय—प्रापय्य भक्तानां—करणेश्वरीचक्र प्रसर-समाविष्टानाम् अर्चामहोत्सवं—पूजास्वरूपविश्रान्ति पुष्णाति। तथा च ममैव—

'प्रज्ञामन्दरमन्थितासममहाभेदोदधेरुद्गता-
न्यक्षाक्षेपविवर्तनाभिरभितो दुग्धामृतान्यादरात् ।
वञ्चित्वा कुविकल्पदैन्यविरहं भूतीरनादृत्य ये
पायं पायमहो पिबन्ति जगति श्लाघ्यास्त एवामराः ।'

इति ॥ ३८ ॥

भक्तिक्षोभवशादीश स्वात्मभूतेऽर्चनं त्वयि ।
चित्रं दैन्याय नो यावद्दीनतायाः परं फलम् ॥ ३९ ॥

हे ईश ! बड़े आश्चर्य की बात यह है कि चित्समावेशरूपिणी विमलभक्ति के प्रक्षोभवशात् आप स्वात्मभूत परमात्मा की विमर्शात्मिका पूजा दीनता के लिए नहीं होती है अर्थात् इससे दीनता नहीं आती है। प्रत्युत लौकिक इच्छाओं को नित्य प्रति देती रहती है ॥ ३९ ॥

त्वयि स्वात्मभूते यद्भक्तिक्षोभवशात्—समावेशवैवश्यादर्चनं, तच्चित्रम्—आश्चर्यं दैन्याय न भवति—न कांचिद्दीनतां फलति। अन्येषां ह्य तदाकाङ्क्षाप्रधानमेव। न केवलमेवं यावत्प्रत्युत दीनतायाः—लौकिक्याः स्पृहायाः परं—पर्यन्तिकमानन्दरूप विभवादिफलस्यापि फलभूतं परं च पूर्णं फलम् ॥ ३९ ॥

उपचारपदं पूजा केषाञ्चित्त्वत्पदाप्तये ।
भक्तानां भवदैकात्म्यनिर्वृत्तिप्रसरस्तु सः ॥ ४० ॥

हे विश्वनाथ ! कुछ द्वैतवादी लोगों के लिए आप की भक्ति आप के पद प्राप्ति के निमित्त हुआ करती है। किन्तु परशाक्तसमावेशशाली भक्तवृन्द के लिये वह पूजन आप चिद्रूप के साथ तादात्म्य सुख का विकास है ॥ ४० ॥

केषांचिदिति—भेदनिष्ठानां त्वत्पदाप्तये — त्वदीयं पदं प्राप्तुम्, उपाचारपदं—प्रक्रियाभूराराधनोपायमात्रमेव। भक्तानां तु भवदैकात्म्यरूपाया निर्वृत्तेः स प्रसरः—विकासः। स इति विधीयमानापेक्षया पुंलिङ्गता ।४०॥

अप्यसम्बद्धरूपार्चा भक्त्युन्मादनिरर्गलैः।
वितन्यमाना लभते प्रतिष्ठां त्वयि कामपि ॥ ४१ ॥

हे देव ! भक्ति के आनन्द उन्माद से निरङ्कुश-स्वतन्त्र बने हुए भक्तजनों के द्वारा संपादित आपकी पूजा यद्यपि असम्बद्धरूपा आवाहन-विसर्जन आदि नियमों से शून्य है, फिर भी आप के चिद्रूप में असामान्य प्रतिष्ठा को बढाने वाली बन जाती है ॥ ४१ ॥

पूजायां मनागपि इतिकर्त्तव्यतान्यथाभावे प्रत्यवायः प्रक्रियाशास्त्रे युक्तः। आश्चर्यं पुनरिदं—भक्त्युन्मादेन—समावेशवैवश्येन निरर्गलैः—विस्मृतेतिकर्तव्यतानियमैरसंबद्धरूपापि — असमञ्जसापि अर्चा वितन्यमाना—प्रयार्यमाणा, कामपीति — क्रियासिष्ठैः — संभावयितुमप्यशक्याम् असामान्यां प्रतिष्ठां सम्यगाभिमुख्येन अवस्थितिं त्वयि लभते इत्यद्भुतध्वनिः ॥ ४१ ॥

स्वादुभक्तिरसास्वादस्तब्धीभूतमनश्च्युताम् ।
शम्भो त्वमेव ललितः पूजानां किल भाजनम् ॥ ४२ ॥

हे शम्भो ! चिदानन्दमय सुमधुर भक्तिरस के चमत्कार से स्तब्धीभूत—एकाग्रभाव से की हुई सारी पूजाविधि का पात्र—अधिकारी वस्तुतः आप अनुपम सौन्दर्य सम्पन्न परमात्मा ही है ॥ ४२ ॥

स्वादुः—चमत्कारसारो यो भक्तिरसस्तस्यास्वादेन स्तब्धीभूतं—चलितचाञ्चल्यं यन्मनस्ततश्च्युत्-च्यवनं प्रसरो यासां पूजानां—विश्वार्पण-क्रियाणां, तासां ललितः—हृद्युचितस्त्वमेव चिदात्मा, शम्भो श्रेयोनिधे ! भाजनम्—आश्रयः किलेति—युक्तौ:—एतदेव युज्यत इत्यर्थः। अन्यस्य ब्रह्मादेर्भेदमयत्वेनेदृगर्चापात्रत्वाभावात्। पूजानामिति बहुवचनं विचित्र-विश्रांतिसारताप्रथनाय ॥ ४२ ॥

परिपूर्णानि शुद्धानि भक्तिमन्ति स्थिराणि च ।
भवत्पूजाविधौ नाथ साधनानि भवन्तु मे ॥ ४३ ॥

हे करुणाकर शिव ! आपकी पूजा की विधि में मेरे साधन परिपूर्ण, शुद्ध और भक्तिभाव से युक्त तथा स्थिर बने रहें ॥ ४३ ॥

भवतः—चिन्नाथस्य पूजाविधौ — अवश्यकार्यायामर्चायां, मम-साधनानि — चक्षुरादीनि करणानि परिपूर्णानि—सृष्ट्यादिदेवीचक्रोल्लास-मयानि । अत एव चिन्मरीचिमयत्वात् शुद्धानि, भक्तिमन्ति—विश्वार्पणेन त्वत्सेवापराणि, कदाचिदपि पाशववासनास्पृष्टत्वात् स्थिरराणि नित्यमी-दृश्येव भवन्तु ॥ ४३ ।

अशेषपूजासत्कोशे त्वत्पूजाकर्मणि प्रभो ।
अहो करणवृन्दस्य कापि लक्ष्मीर्विजृम्भते ॥ ४४ ॥

हे प्रभवनशील देव ! आप की समावेशात्मक पूजा का अनुष्ठान सारी पूजन-विधियों का अनुपम कोश देखा जाता है, जिसमें चिद्रूप की रश्मियों की माला की विलक्षणदीप्ति से युक्त शोभा भासित होती है ॥ ४४ ॥

इमामेव दशां विमृशन्नाह, शक्तीनामुल्लासप्रसरादिप्रभवनशील प्रभो ! अशेषाणां पूजानां — विचित्राणां सृष्टिदेव्यादिपदविश्रांतीनां सत्कोशे — शोभनगञ्जरूपे, त्वत्पूजाकर्मणि — पूर्णचिदानन्दघनश्रीमन्थानभैरवस्वरूप-विश्रान्तौ करणवृन्दस्य—रश्मिचक्रस्य, अहो ! कापि—स्वसंवित्साक्षिका लक्ष्मीः—दीप्तिर्विजृम्भते—स्फुरति, इति महार्थपरिपूर्णस्यास्य सारोपदेश-वर्षीणि इमानि सूक्तान्युल्लसन्ति ॥ ४४ ।

तान्येवाह—

एषा पेशलिमा नाथ तवैव किल दृश्यते ।
विश्वेश्वरोऽपि भृत्यैर्यदर्च्यसे यच्च लभ्यसे ॥ ४५ ॥

हे शरणागत वत्सलदेव ! वस्तुतः यह सहज सरलता आप परमशिव में ही पायी जाती है । जो कि आप त्रिलोकी के अधिपति है, फिर भी हम लोगों के द्वारा पूजे जाते हैं और प्राप्त किये जाते हों अर्थात् बिना किसी रुकावट से आत्मसाक्षात्कार का विषय बन जाते हों ॥ ४५ ॥

पेशल्मिा—सरलता। तवैवेति — चिद्घनत्वेन सर्वेषामात्मनः। विश्वेश्वरोऽपि - सदाशिवादीनामपि स्वामी। अर्च्यसे — समाविश्यसे। लभ्यसे—निर्गलमात्मीक्रियसे ।। ४५ ।।

सदा मूर्त्तादमूर्त्ताद्वा भावाद्यद्वाप्यभावतः।
उत्थेयान्मे प्रशस्तस्य भवत्पूजामहोत्सवः ।। ४६ ।।

हे प्रभवनशील देव! आप परमशिव की समावेशात्मिका पूजा का महोत्सव भक्ति से श्लाधनीम बने हुए मुझ दास को समस्त साकार एवं निराकार वस्तु से अथवा सत्ताहीन असत् वस्तु से भी सदैव मिलता रहे ।। ४६ ।।

मूर्त्तो भावः—घटादिः, अमूर्त्तः—सुखादिः। मूर्त्तो भाव —घटस्य कपालादीनि, अमूर्त्तस्तु भावः—विकल्पकल्पितप्रसज्यप्रतिषेधात्मा, ततः उत्थेयादिति —समस्तं भावाभावपदमधरीकृत्य उन्मज्ज्यादित्यर्थः। भवत्पूजा-महोत्सवः—त्वद्विश्रान्त्युदयः। भावादित्यादिका ल्यब्लोपे पञ्चमी ।। ४६ ।

कामक्रोधाभिमानैस्त्वामुपहारीकृतैः सदा।
येऽर्चयन्ति नमस्तेभ्यस्तेषां तुष्टोऽसि तत्त्वतः ।। ४७ ।।

हे परमशिव! समस्त लौकिक वस्तुओं का उपहार के रूप में समर्पित किये हुए काम, क्रोध एवं अभिमान रूपी उपचारों से जो भक्तलोग आप का सदैव पूजन करते हैं। उन्हें मेरा नमस्कार हो, इसलिये कि पारमार्थिकरूप से तो आप की उन पर ही कृपा रहती है ।। ४७ ।।

सर्वचित्तवृत्तीनां कामादिभिः स्वीकारात्तेषामेवोपादानमुपहारीकृतैः —विचार्य त्वय्येवार्पितैः—तत्त्वतः तुष्टोऽसि—

'हर्षामर्षभयक्रोधैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः।'
भ० गी०, अ० १२, श्लो० १५ ।।

इत्यभिधानात्। ननु च श्रीमन्महासारोक्तिमयेऽमुत्र स्त्रोत्रेऽयं श्लोको रुद्रस्थानीयः ? सत्यम्,

'अशेषवासनाग्रन्थि·····।' स्तो० १७ श्लो० १५ ।।

इत्यादिकस्यापि स्मर्त्तव्यम्।

'लोकवद्भवतु मे······।' स्तो० ८, श्लो० ३ ।।
'निजनिजेषु पदेषु······।' स्तो० ८, श्लो० ५ ।।

'अस्मिन्नेव जगत्यन्तर……।' स्तो० १६, श्लो० २३ ।

'आवेदकादा च वेद्यात्……' स्तो० १६, श्लो० २७ ॥

'पानाशनप्रसाधन…………।' स्तो० १६, श्लो० २६ ॥

'समुल्लसन्तु भगवन्………।' स्तो० ५, श्लो० ८ ॥

'न क्वापि गत्वा…………।' स्तो० २०, श्लो० १० ॥

इत्यादयस्त्वनुगुणा अप्यत्र श्लोका न सन्ति । तदयमसमञ्जसशय्याप्रस्तारिणः श्रीविश्वावतंस्यैव प्रसादः । एवमन्येष्वपि स्तोत्रेष्वेवंप्रायं बह्वनुचितमस्ति, तत्तु अस्माभिर्नोद्घाटितम्—इत्यलं, सूक्तान्येवानुसरामः ॥ ४७ ॥

जयत्येष भवद्भक्तिभाजां पूजाविधिः परः ।
यस्तृणैः क्रियमाणोऽपि रत्नैरेवोपकल्पते ॥ ४८ ॥

हे सर्वव्यापक देव ! आप के भक्तलोगों की इस अनुपम पूजनविधि की सदैव जय हो । जो कि यह पत्र-पुष्प-आदि तृणों से किये जाने पर भी बहुमूल्यवान् मोक्षस्वरूप रत्नों से ही पूर्ण हो जाती है ॥ ४८ ॥

इति सर्वदर्शनाचार्यश्रीकृष्णानन्दसागरकृत-हिन्दीव्याख्या-स्तवरञ्जनी ।

अपिभिन्नक्रमस्तेन तृणैरपि क्रियमाणः यो रत्नैरेवोपकल्पते— पूर्णविश्रान्तिप्रदो भवति, स भवद्भक्तिभाजां—त्वत्समावेशशालिनां परः— पूर्णः पूजाविधिर्जयतीति शिवम् ॥ ४८ ॥

इति श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितस्तोत्रावली दिव्यक्रीडाबहुमाननाम्नि
सप्तदशे स्तोत्रे श्रीक्षेमराजाचार्यकृता विवृतिः ॥ १७ ॥

अथ

अष्टादशं स्तोत्रम्

जगतोऽन्तरतो भवन्तमाप्त्वा
पुनरेतद्भवतोऽन्तराल्लभन्ते ।
जगदीश तवैव भक्तिभाजो
न हि तेषामिह दूरतोऽस्ति किञ्चित् ॥ १ ॥

हे जगन्नाथ ! आप चिद्रूप के स्वरूपभूत समावेशशाली भक्तलोग ही मायीय भेदप्रथात्मक विश्वप्रपञ्च के मध्य में से आप को प्राप्त कर पुनः इस जगत् को आप चिद्रूप के मध्य में से उपलब्ध करते हैं; क्योंकि जिन्होंने अच्छी तरह आप के स्वरूप को पहचान लिया है, उनके लिये इस विश्व में कुछ भी दुर्लभ नहीं है ॥ १ ॥

हे जगदीश ! ये तवैव—चिद्रूपस्य स्वात्मनो भक्तिभाजास्ते जगतः—विश्वस्य अन्तरतः—मध्यात् भवन्तमाप्त्वा — प्रकाशमानव्यवहारपदादेव प्रकाशरूपं त्वां लब्ध्वा, पुनरपि एतत्—जगद्भवतः—चिद्रूपस्य अन्तरतो मध्याल्लभन्ते। यस्मात्तेषां — भक्तिभाजां सम्यक्प्रत्यभिज्ञातविश्वात्मकत्वत्स्वरूपाणामिह—जगति दूरे न किंचिदस्तिः सर्वस्य—स्वांगकल्पत्वेन स्फुरणात्। तदुक्तं गीतासु—

'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।' अ० ६, श्लो० ३१ ॥

इत्यादि ॥ १ ॥

क्वचिदेव भवान् क्वचिद्भवानी
सकलार्थक्रमगर्भिणी प्रधाना ।
परमार्थपदे तु नैव देव्या
भवतो नापि जगत्त्रयस्य भेदः ॥ २ ॥

हे परमशिव ! किसी विमुक्तस्वरूप विश्वोत्तीर्णदशा में आप परमात्मा शिव की ही प्रधानता देखी जाती है और कहीं पर विश्वमय दशा में कला से पृथिवीतत्त्व-पर्यन्त प्रमेयराशि से परिपूर्ण भगवती आद्यशक्ति भवानी की ही प्रधानता है। परन्तु वास्तविक रूप से न तो देवी और न ही इस त्रिभुवन तथा आप के रूप में किसी भी प्रकार की भिन्नता नहीं है ॥ २॥

क्वचिदेवेति—मुक्तौ, क्वचिदिति—तदुपायतायां भोगे च, भवानी—पराशक्तिः, सकलः — कलादिक्षित्यन्तः अर्थक्रमः — प्रमेयराशिर्गर्भेऽन्तः शिम्बिकाबीजवत्संसृष्टोः यस्याः। परमार्थपदे—गलितकल्पनायां तात्त्विक्यां दृष्टौ पुनः जगत्त्रयस्यापि—भवातिभवाभवात्मनः त्वत्तो भेदो नास्ति, किं पुनः शक्तेः ॥ २ ॥

नो जानते सुभगमप्यवलेपवन्तो
लोकाः प्रयत्नसुभगा निखिला हि भावाः ।
चेतः पुनर्यदिदमुद्यतमप्यवैति
नैवात्मरूपमिह हा तदहो हतोऽस्मि ॥ ३ ॥

इस मायीय संसार में पामर लोग विषयासक्त हो कर समस्त भाव पदार्थों के चिदानन्दमय परम सौभाग्य स्वरूप नहीं समझे पाते हैं, इसलिए कि ये समस्त भाव-पदार्थ सर्वथा निश्चय से ही सुभग—परमानन्द से परिपूर्ण प्रतीत होते हैं। यह ठीक ही है, किन्तु आश्चर्यजनक यह है कि उत्कण्ठित हुआ मेरा चित्त अपने आत्मस्वरूप का बोध नहीं कर पाता है, इससे हाय ! मैं मारा गया हूँ ॥ ३ ॥

लोकास्तावदवलेपवन्तः सन्तः सुभगमपि—चिदात्मकं रूपं भावनां न जानन्ति, यतः प्रयत्नेन—सर्वथा निश्चयेन, सुभगाः— उत्कृष्टा एव निखिलाः—सर्वे भावाः, प्रकाशमानत्वेन चिन्मयत्वात्। पुनरास्तां भावस्वरूपज्ञानम्, आश्चर्यमात्मनोऽपि रूपं वेदितुमुद्यतमपि चेतो यन्नैवा-वैति— समावेशधारारुरुक्षारणरणकाक्रान्तमपि यच्चिदैकात्म्यं न भजते तत् हतोऽस्मि— व्यापादितोऽस्मि, इति झगति समावेशप्रकर्षमलभमानस्य ताम्यत इयमुक्तिः ॥ ३ ॥

भवन्मयस्वात्मनिवासलब्ध-
सम्पद्भराभ्यर्चितयुष्मदङ्घ्रिः ।
न भोजनाच्छादनमप्यजस्र-
मपेक्षते यस्तमहं नतोऽस्मि ॥ ४ ॥

हे परमशिव ! आप के चित्स्वरूप में अच्छी तरह निवास करने से परमानन्दरूपी सम्पदा के भार से आप के विमल चरण-कमलों की अर्चना करने वाला जो शिवभक्त निरन्तर भोजन वस्त्रादिकों की भी अपेक्षा नहीं रखता है, उस शिवभक्त को नमस्कार करता हूँ ॥ ४ ॥

भवान्—चिद्रूपः प्रकृतं रूपं यस्य तथाभूते स्वात्मनि निवासेन—विश्रान्त्या लब्धेन सम्पद्भरेण—परमानन्दभूतिप्रसरेण अभ्यर्चितौ—गाढमभेदेनावष्टब्धौ युष्मदङ्घ्री येन तथा भूतोऽजस्रं यो भोजनाच्छादनमपि नापेक्षते—

'अश्नन् यद्वा तद्वा……।' प० सा०, श्लो० ६६ ॥

इति स्थित्या व्यवहारानपेक्षः पूजापर एव तमहं नौमि ॥ ४ ॥

सदा भवद्देहनिवासस्वस्थो-
ऽप्यन्तः परं दह्यत एष लोकः ।
तवेच्छया तत्कुरु मे यथात्र
त्वदर्चनानन्दमयो भवेयम् ॥ ५ ॥

हे करुणाकर शिव ! यह संसारी जीवात्मा सदैव आप के पारमार्थिक शरीर में निवास करने से स्थित रहता हुआ भी आप की स्वातन्त्र्यशक्तिरूपी इच्छा के द्वारा हृदय में अत्यधिक जलता रहता है अर्थात् सांसारिक संतापों से निरन्तर व्यग्र बना रहता है । इसलिये अपनी स्वरूप प्रथनात्मक इच्छाशक्ति से मेरे लिये ऐसा कीजिये, जिससे कि मैं आप की अर्चना के आनन्द से परिपूर्ण हो जाऊं । ५ ॥

सदा भवदीये देहे—उपचिते स्वरूपे निवसनेन वस्तुतः स्वस्थः—आनन्दमयोऽप्येष लोकः, तवेच्छया—भेदप्रथारूपया त्वन्मायाशक्त्या अन्तः परम्—अतिशयेन दह्यते—दद्दुःखैरायास्यते । यत एवं तस्मात्तवेच्छया—अनुजिघृक्षया, अत्र—कल्पिते विषये त्वं मे—भक्तस्य तदिति—तथा कुरु यथाहं त्वदर्चनानन्दमयः स्याम् । ५ ॥

स्वरसोदितयुष्मदङ्घ्रिपद्म-
द्वयपूजामृतपानसक्तचित्तः।
सकलार्थचयेष्वहं भवेयम्
सुखसंस्पर्शनमात्रलोकयात्रः ॥ ६ ॥

हे परमात्मन् ! अपने चिद्रस से प्रादुर्भूत होने वाली आप के युगल पादपद्म की समावेशैश्वर्यरूपिणी अर्चना अमृतपान में संलग्न चित्तवाला मैं समस्त लौकिक व्यवहारों के विषय में ऐसा बना रहूँ, जिससे मुझे उस व्यावहारिक क्षेत्र में भी परमानन्द रसानुभूति की झलक मिलती रहे ॥ ६ ॥

स्वरसेन—अप्रयत्नमेवोदिता या युष्मदङ्घ्रिपद्मद्वयपूजा त्वत्समावेशसंपत्, सैवामृतपानं तत्र सक्तचित्तः—विश्रान्तमानसः । सकलेषु—हेयोपादेयाद्यभिमतेषु अर्थचयेषु—व्यवहारेषु, अहं सुखसंस्पर्शनमात्रलोकयात्रो भवेयम्—स्वानन्दोल्लाससारजगद्व्यवहारः स्याम् ॥ ६ ॥

सकलव्यवहारगोचरे
स्फुटमन्तः स्फुरति त्वयि प्रभो ।
उपयान्त्यपयान्ति चानिशम्
मम वस्तूनि विभान्तु सर्वदा ॥ ७ ॥

हे प्रभवनशील देव ! समस्त लौकिक व्यवहारों में आप के स्फुटरूप में से प्रकाशित होने पर ही सारे पदार्थ उत्पन्न होते हैं और विनष्ट होते हैं, यही स्थिति मैं सदैव देखता रहूँ। आशय यह है कि आप के चित्स्वरूप का साक्षात्कार करके मैं सदैव भौतिक वस्तुओं की उत्पत्ति एवं क्षणभङ्गुरता के क्रम को देखता रहूँ । ७ ॥

सर्वदा - सदा, अनिशं - निर्विरामं, व्यवहारविषयस्यान्तर्मम त्वयि—चिद्रूपे स्फुटं स्फुरति सति, सर्वाणि वस्तूनि उपयान्त्यपयान्ति च—सृज्यमाणानि संह्रियमाणानि च स्फुरन्तु, त्वदाविष्टोऽहं सदा भावसर्गसंहारकृत् स्यामित्यर्थः । 'उपयान्त्यपियान्ति च'—इति पाठे, आगच्छन्तोऽपि दर्पणे प्रतिबिम्बवद्विलीयमाना एव न त्ववस्थितिं मनागपि भजमाना भान्तु, इति व्याख्येयम् । च एवार्थे । उद्यन्तो विनश्यन्तश्च लोकवद्यथा भान्ति तथा भान्तु—इति वा योज्यम् ॥ ७ ॥

सततमेव तवैव पुरेऽथवा-
　　प्यरहितो विचरेयमहं त्वया ।
क्षणलवोऽप्यथमा स्म भवेत् स मे
　　न विजये ननु यत्र भवन्मयः ॥ ८ ॥

हे विश्वनाथ ! मैं सदैव आप की शिवनगरी में अर्थात् परशाक्त स्वरूप में ही विचरण करता हूँ अथवा आप के चित्स्वरूप से अभिन्न हो कर ही विचरण करता हूँ, किन्तु जब तक मैं आप के चिद्रूप से अभिन्न हो कर परम उत्कर्षभाव को प्राप्त न करूँ, तब तक वह एकक्षण भी मुझे कभी न मिले ॥ ८ ॥

तवैव संबन्धिनि पुरे—पूरके शाक्ते पदे विचरेयं—शाक्तसमावेशशाली स्याम् अथवा त्वयारहितः, इति—शाम्भवसमावेशमयः । अथवा भवन्मय इति—त्वद्रूपो विमुक्तस्वभावो यत्र न विजये—न सर्वोत्कर्षेण वर्ते, स क्षणलवोऽपि मे मा भूत्—इति उत्तरोत्तरसातिशयदशाशंसापरमेतत् । ननु वितर्के ॥ ८ ॥

भवदङ्गपरिस्रवत्सुशीता-
　　मृतपूरैर्भरिते समन्ततोऽपि ।
भवदर्चनसम्पदेह भक्ता-
　　स्तव संसारसरोऽन्तरे चरन्ति ॥ ९ ॥

हे भगवन् ! आप की अर्चनारूपिणी संपदा से सुशोभित आप के भक्तवृन्द आप की अङ्गरूपी पराशक्ति के प्रत्यङ्ग से बहती हुई सुशीतल चिदानन्दरूपी सुधा की धाराओं से चारों ओर से भरे हुए इस भवसरोवर के मध्य में विचरण करते हैं ॥९॥

तव भक्ताः भवदर्चनसंपदा—त्वाद्विश्रान्तिलक्ष्म्या उपलक्षिता इह संसारसरसः—भवसमुद्रस्य अन्तरे—मध्ये, चरन्ति—व्यवहरन्ति । कीदृशे ? भवदीयात्परशक्तिरूपादङ्गात् परितः—समन्तात् स्रवद्भिः सुष्ठु शीतलैः—दुःखानलतापोपशान्तिदैरमृतपूरैः—आनन्दोल्लासैः समन्ताद्भरिते—पूरिते इति यावत् ॥ ९ ॥

महामन्त्रतरुच्छायाशीतले त्वन्महावने ।
निजात्मनि सदा नाथ वसेयं तव पूजकः ॥ १० ॥

हे नाथ ! मैं महामन्त्र—अहंपरामर्शरूपी वृक्ष की शीतल छाया-कान्ति से अर्थात् मायीय भेदाप्रथात्मक तापत्रय की निवृत्ति करनेवाले अपने स्वरूपात्मक चिदात्मा के महावन में विपुल-विश्रान्तिस्थान में मैं सदैव आप के चरणों का पूजारी बन कर रहूँ ।! १० ॥

महामन्त्रः—परावाग्रूपः शुद्धाहंविमर्श एव शक्तिशाखाशतैः प्रसृतत्वात् तरुस्तस्य छायया– कान्त्या शीतले– भेदसन्तापहारिणि, त्वन्महा—वने— त्वमेव चिदात्मा महावनं—विपुलं विश्रांतिस्थानं तत्र, निजात्मनि—स्वस्वभावे, नाथ सदा तव पूजकः—त्वदर्चापरो वसेयं—स्थितिं बध्नीयाम् ॥ १० ॥

प्रतिवस्तु समस्तजीवतः
प्रतिभासि प्रतिभामयो यथा ।
मम नाथ तथा पुरः प्रथां
व्रज नेत्रत्रयशूलशोभितः ॥ ११ ॥

हे **नाथ !** जैसे समस्त देहधारियों को प्रत्येक वस्तु में आप प्रतिभामय— चित्स्वरूप के रूप में प्रतिभासित होते हों, वैसे मुझ किंकर के हृदय में भी आप त्रिनयन एवं त्रिशूल से सुशोभित हो कर प्रकट हो जायें ॥ ११ ॥

प्रतिवस्तु—प्रतिभावं, समस्तजीवतः—सर्वेषां जीवानाम्, असि—त्वं यथा प्रतिभामयः– संविद्रूपः नीलादिग्रहणान्यथानुपपत्त्या प्रतिभासि—अप्रत्यभिज्ञातोऽपि वस्तुतः स्फुरसि। तथा मम दासस्य नाथ ! पुरः—अग्रे सर्वत्र, नेत्रत्रयेण शूलेन च शोभितः– निरतिशयासाधारणाभिज्ञानेन सम्यक् प्रत्यभिज्ञातः सन्, प्रथां व्रज– प्रकटीभव –समावेशेन स्फुरेत्यर्थः। नेत्रत्रयशूले असाधारणाभिज्ञानोपलक्षणपरे, न पुनरत्राकारे भरः। समस्तजीवतः—इति प्रतियोगे शस् ॥ ११ ॥

अभिमानचरूपहारतो
ममताभक्तिभरेण कल्पितात् ।
परितोषगतः कदा भवान्
मम सर्वत्र भवेद् दृशः पदम् ॥ १२ ॥

भगवान् परमशिव ही मेरे लिये सब कुछ है, इस विमल भावना से परिपूर्ण भक्तिरसपूर्वक देहादिकों में मिथ्या प्रकल्पित अहङ्काररूपी चरु-हव्यान्न के उपहार से-मेरे पराहंभाव-ग्रहण से प्रसन्नता को प्राप्त हुए आप शिव सभी जाग्रदादि अवस्थाओं में मेरी दृष्टि का विषय विश्रान्ति स्थान होंगे अर्थात् शरीरादिकों के प्रति मिथ्या अभिमान के विनष्ट होने पर मैं कब आप के विश्वोत्तीर्णस्वरूप का दर्शन करूँगा ? ॥ १२ ॥

अभिमानः—अहंकार एव चरुः—स्थालीपाकस्तस्य उपहारः—भगवत्यर्पणं पराहंभावग्रहणं, ततः। कीदृशात् ? "मम महेश्वरः स्वामी अस्ति"—इत्येवं ममताप्रधानः यो भक्तिरसः - सेवाप्रकारस्तेन कल्पितात्—सम्पादितात्, भवान् परितोषं गतः--प्रसन्नः सन् कदा सर्वत्र मम दृशः --दर्शनस्य पदं - विश्रांतिभूर्भवेत् - गलिते देहाद्यभिमाने त्वन्मयमेव विश्वं साक्षात्कुर्यामित्यर्थः ॥ १२ ।

निवसन्परमामृताब्धिमध्ये
भवदर्चाविधिमात्रमग्नचित्तः ।
सकलं जनवृत्तमाचरेयं
रसयन्सर्वत एव किञ्चनापि ॥ १३ ॥

हे करुणाकर शिव ! आप की पूजा करने में संलग्न चित्त वाला हो कर परमामृत सागर के मध्य में अर्थात् चिदानन्दरूपी समुद्र के बीच में निवास करता हुआ सारी वस्तुओं में से कुछ अलौकिक आनन्द स्वरूप अभीष्ट रस का अनुभव करता रहूँ और सारे लौकिक व्यवहारों को देखता रहूँ ॥ १३ ॥

अहं भवदर्चाविधिमात्रे मग्नचित्तः—आसक्तः सन्, परमामृताब्धि-मध्ये—चिदानन्दसमुद्रस्यान्तर्वसन् सकलं जनवृत -लोकचेष्टितमाचरेयम् । कीदृक् ? सर्वतः—सर्वस्यैव मध्यात् किंचनापि—अलौकिकमानन्दस्वरूपम् अभीष्टं रसयन् - आस्वादयन् ॥ १३ ॥

भवदीयमिहास्तु वस्तु तत्त्वं
विवरीतुं क इवात्र पात्रमर्थे ।
इदमेव हि नामरूपचेष्टा-
द्यसमं ते हरते हरोसि यस्मात् ॥ १४ ॥

हे परमेश्वर ! इस जगत् में जो कुछ वस्तु प्रतीत होती है, वह सब आप का ही ऐश्वर्य स्वरूप है। यह सत्य है, किन्तु इस विषय में वास्तविक तत्त्व का निश्चय करने के लिये कौन-सा भक्त पात्र हो सकता है ? इसलिये कि यही आपके असाधारण प्रभाव वाले 'महेश्वर' आदि नाम सच्चिदानन्द' रूप जगत की सृष्टि-आदि चेष्टाएँ चित्त को आकर्षित कर लेती हैं। यह ठीक ही है; क्योंकि 'हर'—हरने वाला यह आप का नाम ही है ॥ १४ ॥

इह—जगति, यावत्किंचिद्वस्तु तत्सर्वं भवदीयं- त्वद्विभूतिरूपमिति। एतदोमित्येवास्तु। अत्रार्थे तत्त्वं विवरीतुं क इव भक्तिमान् पात्रं, न कश्चित्। यतो यावद्वयमेतद्विचारयितुं प्रक्रमामहे तावद्यदुपक्रमविचारः तत्त्वदीयमिदमेव आसामान्यप्रभावमनुभवसिद्धम्। नामरूपचेष्टादि। 'महेश्वर' इत्यादि नाम, चिद्धनं रूपम्। सर्वसृष्टिसंहारकारिणी चेष्टा। आदिग्रहणात् सर्वज्ञता-स्वतन्त्रादिधर्मः, तत्प्रथममेव स्फुरितं, तद्धरते — समावेशवैवश्यापादनेन विस्मृतव्यापारानस्मान् सम्पादयति। युक्तं चैतत्। यतस्त्वं हरतीति हरः—इत्यन्वर्थनामा ॥ १४ ॥

शान्तये न सुखलिप्सुता मना-
ग्भक्तिसम्भृतमदेषु तैः प्रभोः।
मोक्षमार्गणफलापि नार्थना
स्मर्यते हृदयहारिणः पुरः ॥ १५ ॥

हे प्रभवनशील देव ! भक्ति से भक्त बने हुए आप शिव के भक्तवृन्द में आत्यन्तिक विश्रान्ति के हेतु थोड़ी-सी भी सुखानुभूति की अभिलाषा नहीं हाती है और उन्हें हृदय को हरने वाली प्रभु के अभिमुख मोक्षधर्म की प्राप्ति में हेतु फलवती स्तुति का भी स्मरण नहीं रहता है ॥ १५ ॥

भक्त्या सम्भृतो मदो यत्र तेषु—त्वद्दासेषु विषये, शान्तये—दुःखनिवृत्तये या सुखलिप्सुता—भोगस्पृहा, सा मनागपि नास्तिः भक्ति-संभृतमदत्वादेव। तैश्च प्रभोः पुर इति—साक्षात्कृतस्याग्रे मोक्षमार्गणफला-प्यर्थना न स्मर्यते। कीदृशस्य प्रभोः ? हृदयहारिणः—मायाप्रमातृतां शमयतः। अत एव येषां हृदयमेव हृत ते कथमन्यत्स्मरेयुः — इत्येषां समावेशपरतैवोक्ता ॥ १५ ॥

जागरेतरदशाथवा परा
यापि काचन मनागवस्थितेः ।
भक्तिभाजनजनस्य साखिला
त्वत्सनाथमनसो महोत्सवः ॥ १६ ॥

हे लोकेश ! संसारधर्म के नियमानुसार जो कोई जाग्रत्, स्वप्न अथवा सुषुप्त अवस्थाएँ आप से अभिन्नता को प्राप्त हो कर एकाग्रभाव से भक्ति के पात्र बने हुए मनुष्य के लिये महोत्सव-परम आनन्दरूप ही है ॥ १६ ॥

अवस्थितेः—जगद्व्यवस्थायाः सम्बन्धिनी या काचित् जागरस्वप्न-सुषुप्तदशा, मनागिति—संकुचितापि, सा सर्वा भक्तिमतस्त्वत्सनाथमनसः—त्वदधिष्ठितचित्तस्य, महोत्सवः—महाभ्युदयः; त्वत्सनाथत्वादेव ॥ १६ ॥

आमनोऽक्षवलयस्य वृत्तयः
सर्वतः शिथिलवृत्तयोऽपि ताः ।
त्वामवाप्य दृढदीर्घसंविदो
नाथ भक्तिधनसोष्मणां कथम् ॥ १७ ॥

हे नाथ ! मन से लेकर इन्द्रियवर्ग पर्यन्त सारी वृत्तियाँ अतिचञ्चल देखने में आती हैं, किन्तु वे आप चिदात्मा को प्राप्त कर लेने पर समावेशमयी भक्तिरूपी धन से प्रकाशमान भक्तवृन्द के लिये दृढ एवं स्थिर स्वभाववाली कैसे वन सकती हैं ? यही सबसे बड़ा आश्चर्य है ॥ १७ ॥

हे नाथ ! आमनः—मनःपर्यन्तम्. अक्षवलयस्य—इन्द्रियग्रामस्य वृत्तयः—व्यापाराः, सर्वत्र शिथिलवृत्तयः—चञ्चला अपि यास्ताः, भक्तिधनेन सोष्मणाम्—ऊर्जस्विनां त्वां—चिद्रूपं प्राप्य, दृढाः—अशिथिलाः, दीर्घाश्च—भवदैकात्म्येन त्वद्वदेवावस्थास्नवः शुद्धबोधरूपाः । कथमिति स्वात्मन्येवास्य विस्मयः ॥ १७ ॥

न च विभिन्नमसृज्यत किञ्चिद-
स्त्यथ सुखेतरदत्र न निर्मितम् ।
अथ च दुःखि च भेदि च सर्वथा-
प्यसमविस्मयधाम नमोऽस्तु ते ॥ १८ ॥

हे परमशिव ! सृष्टि से पूर्वकाल में आपने अपने चित्स्वरूप से पृथक् कुछ भी नहीं निर्माण किया है। वस्तुतः यह सारा दृश्य आप से भिन्न भी नहीं है तथा इस विश्व में आपने कुछ भी दुःखात्मक नहीं बनाया है फिर भी यह सब दुःखमय एवं भेदमय प्रतीत होता है, ऐसे असाधारण विस्मय के स्थान शिव ! आप को नमस्कार हो ॥ १८ ॥

आदिसर्गादौ त्वया न च—नैव, किंचिद्भिन्नम् असृज्यत - सृष्टम्, नाप्यस्ति त्वत्तो विभिन्नं किंचित्। अथ शब्दो अप्यर्थे। सर्वस्य चेत्यमानत्वेन चिन्मयत्वाद्भेदासम्भवः। अथ च सुखेतरद्—दुःखरूपं न किंचिन्निर्मितम् उक्तादेव हेतोः। किंचिच्छब्दस्त्रिर्योज्यः। अथ चैवं सर्वथैव दुःखि च भिन्नं च। अपिरेवशब्दार्थः। त्वदैकात्म्याप्रत्यभिज्ञानादेव। एवमसमविस्मयधाम — असामान्याश्चर्यभूमे ! ते—तुभ्यं नमोऽस्तु ॥ १८ ॥

स्वरनिषेधखदामृतपूरणो-
च्छलितधौतविकल्पमलस्य मे।
दलितदुर्जयसंशयवैरिण-
स्त्वदवलोकनमस्तु निरन्तरम् ॥ १९ ॥

हे महेश्वर ! आपके चित्स्वरूप का गोपन करने वाली मायीय भेदप्रथारूपी भयानक खाई को चिदानन्दरूपी सुधा से आप्लावित कर देने से धो दिया गया हो विकल्पमय मल जिसका एवं विनष्ट किया गया हो दुर्जन संशयरूपी शत्रु जिसका, ऐसे मुझ किंकर को आप के चित्स्वरूप का दर्शन निरन्तर होता रहे ॥ १९ ॥

खरा—विषमा या निषेधखदा—त्वदख्यातिदरी, तस्या अमृतेन—त्वदद्वयपीयूषेण यत्पूरण, तेनोच्छलितम्—उत्प्लावितमत एव धौतं विकल्पमलं यस्य तस्य, तथा दलितः—चूर्णितो दुर्जयः संशय एव वैरी—रिपुर्येन तादृशः सतो मम त्वदवलोकनं—चिद्घनत्वदात्मस्फुरणं, निरन्तरं—घनमस्तु ॥ १९ ॥

स्फुटमाविश मामथाविशेयं
सततं नाथ भवन्तमस्मि यस्मात्।
रभसेन वपुस्तवैव साक्षा-
त्परमासक्तिगतः समर्चयेयम् ॥ २० ॥

हे नाथ ! सर्वप्रथम आप गोपनीयरूप से नहीं, अपि तु स्फुट-प्रकटरूप से मुझ किंकर के हृदय में प्रवेश कीजिये। इसके पश्चात् मैं भी आप के चित्स्वरूप में सदैव प्रवेश करता रहूँगा, जिससे कि मैं अत्यन्त निकट पहुँच कर उत्कण्ठापूर्व ही आप के साक्षात् स्वरूप का भलीभाँति पूजा करूँगा ।। २० ।।

हे नाथ ! त्वं तावत् स्फुटं—प्रकटं कृत्वा न तु गूहितत्वेन समाविश। अथानन्तरम् एवं विधे त्वयि सति, उपजातसामर्थ्योऽस्मि अह भवन्त सततम् आविशेय—गाढावष्टम्भेन स्वीकरोम्येवेति नियोगे लिङ्। यस्मादिति—एवं सति, परमासत्तिगतः—अतिनिकटं प्राप्तस्तवैव रभसेन—त्वरया साक्षाद्वपुः—तात्त्विकं स्वरूपं सम्यगर्चयेयं—समाविशेयमिति यावत् ॥ २० ॥

त्वयि न स्तुतिशक्तिरस्ति कस्या-
प्यथवास्त्येव यतोऽतिसुन्दरोऽसि ।
सततं पुनरर्थितं ममैत-
द्यदविश्रान्ति विलोकयेयमीशम् ।। २१ ।।

हे देव ! आप के चिदानन्दस्वरूप का बोध न होने से किसी भी ब्रह्मा, विष्णु आदि देवताओं को भी आप के विषय में स्तुति करने वाली शक्ति रहती ही है; इस लिये कि आप का स्वरूप अत्यन्त शोभनीय है। मेरी तो सदैव यही प्रार्थना है कि मैं निरन्तर आप देवाधिदेव का दर्शन करता रहूँ ।। २१ ।।

इति श्रीसर्वदर्शनाचार्यश्रीकृष्णानन्दसागरकृत-हिन्दीव्याख्या-स्तवरञ्जनी ।

कस्यापीति—ब्रह्मोपेन्द्ररुद्रादेरपि भेदमयत्वेन चिद्घनपरमेश्वररूपाप्रत्यभिज्ञानात्। अतिसुन्दर इति—चिदानन्दघनस्वात्मरूपत्वादतिस्पृहणीयो हृदयहारी। अतो यस्त्वामात्मानं प्रत्यभिजानाति तस्य कस्यापि—असामान्यस्य त्वयि स्तुतिशक्तिरस्त्येव। कस्यापीति आवर्त्य योज्यम्। मम पुनः स्तोतुः सततमेतदर्थितं—वाञ्छितं, यदविश्रान्ति—निर्विरामं त्वामीशं समवलोकयेयं—साक्षात्कुर्यामिति शिवम् ॥ २१ ॥

इति श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितस्तोत्रावलौ आविष्कारनाम्नि
अष्टादशे स्तोत्रे श्रीक्षेमराजाचार्यविरचिता विवृतिः ।। १८ ।।

अथ

एकोनविंशं स्तोत्रम्

प्रार्थनाभूमिकातीतविचित्रफलदायकः ।
जयत्यपूर्ववृत्तान्तः शिवः सत्कल्पपादपः ।। १ ।।

प्रार्थका की भूमिका से अतीत विचित्र कर्म फल के प्रदायक एवं अपूर्व व्यवहार के संपादक भगवान् परमशिवरूपी सर्वोत्कृष्ट कल्पवृक्ष की जय-जयकार हो ।। १ ।।

सत्कल्पतरुर्वाञ्छितमेव ददाति; शिवस्तु प्रार्थयितुमशक्यमपि— इत्यपूर्ववृत्तान्तः ।। १ ।।

सर्ववस्तुनिचयेकनिधाना-
त्स्वात्मनस्त्वदखिलं किल लभ्यम् ।
अस्य मे पुनरसौ निज आत्मा
न त्वमेव घटसे परमास्ताम् ।। २ ।।

हे परमात्मन् ! समस्त चराचरात्मक वस्तुओं के एकमात्र अधिष्ठान होने के कारण आप परमशिव से ही सब कुछ उपलब्ध हो जाता है, यह सर्वथा सत्य है। किन्तु मुझ किंकर को आप अपने स्वरूपभूत मान कर भी प्रकट नहीं होते हों अर्थात् व्युत्थानदशा में आप का स्वरूप दर्शन मुझे नहीं होता है, अन्य सिद्धियों की तो बात ही उठती है ।। २ ।।

त्वदिति—त्वत्तः स्वात्मनः सर्वार्थैकाश्रयात्किल विश्वं लभ्यम् । अस्येति—सदा स्वरूपनिभालनप्रवणस्य मम पुनः परं लभ्यमास्तां, त्वमेव निज आत्मा—स्वं स्वरूपं न घटसे—व्युत्थानसमये न प्रकाशसे इति यावत् ।। २ ।।

ज्ञानकर्ममयचिद्वपुरात्मा

सर्वथैष परमेश्वर एव ।

स्याद्वपुस्तु निखिलेषु पदार्थे-

ष्वेषु नाम न भवेत्किमुतान्यत् ।। ३ ।।

सांसारिक समस्त वेद्य-वस्तुओं में यह ज्ञान एवं क्रियात्मक चिद्वपु परमेश्वर ही आत्मा के रूप में विद्यमान है, वस्तुतः उसका यह पारमार्थिक स्वरूप ही है, यदि ऐसा नहीं मानते हो, तो इन पदार्थों का अस्तित्व ही नहीं रहेगा ।। ३ ।।

सर्ववस्तुषु चिद्वपुर्ज्ञानक्रियात्मा परमेश्वर आत्मा, स एव सर्वथा—सर्वेण प्रकारेण त्वदंशाधिष्ठानेन वपुः—स्वरूपं स्यात्—अस्तीति सम्भाव्यते। एष इति– स्फुरद्रूपः। ननु विचित्रकार्यकारणानां नानादेशस्वरूपाणां वस्तूनां कथमेकेश्वरात्मता सम्भाव्यते ? इत्याह एषु वस्तुषु अन्यथा नामैव—संज्ञैव न भवेत्, किमुतान्यत्;—कार्यकारणस्वरूपादिकम्। प्रकाशमयत्वं विना कस्याप्यसिद्धेः अन्यथा—इत्यध्याहार्यम् ॥ ३ ॥

विषमार्तिमुषानेन फलेन त्वदृगात्मना ।

अभिलीय पथा नाथ ममास्तु त्वन्मयी गतिः ।। ४ ।।

हे नाथ ! संसार के संतापों की निवृत्ति करने वाले आप के स्वरूपदर्शनात्मक इस मार्ग से मैं विलीन हो जाऊ और इसके फलस्वरूप मुझे आप से अभेदात्मिका गति-अवस्था मिल जाय ।। ४ ।।

विषमार्ति—संसारतापं मुष्णाति यस्त्वद्दृगात्मा- त्वत्साक्षात्काररूपः पन्था, तेन मे अभिलीय—फलेन फलतः। त्वन्मयी—त्वदेकरूपा गतिः—प्राप्तिरस्तु, भुक्त्वा देवदत्तगमनमितिवत्। अभिलीय—इत्यत्र क्त्वाप्रत्ययो योजयित्वा परतोऽस्तु—इति योज्यम्। अभिलीलेति पाठे स्फुरच्चिदानन्द-विलासा– इति व्याकर्तव्यम् ॥ ४ ॥

भवदमलचरणचिन्तारत्नलता-

लङ्कृता कदा सिद्धिः ।

सिद्धजनमानसानां विस्मयजननी

घटेत मम भवतः ॥ ५ ॥

हे भगवन् ! आप के ज्ञान-क्रियात्मक विमल चरण-कमलों की चिन्तारूपिणी रत्नराशि की लता से समलंकृत एवं सिद्धपुरुषों के हृदय में विस्मय उत्पन्न करनेवाली परमसिद्धि मुझ किंकर को कब आप से प्राप्त होगी ? ॥ ५ ॥

भवतोऽमलाः—शुद्धा ये चरणाः-ज्ञानक्रियादिमरीचयस्तेषु चिन्ता—पुनःपुनर्निभालनं, सैव सर्वसंपत्प्रदत्वाद्रत्नलता, तया अलङ्कृता—संप्राप्तत्वदावेशशोभा कदा मम पूर्णा सिद्धिर्घटेत भवतः सकाशात् । कीदृशी ? सिद्धजन-मानसानां—योगिचित्तानां विस्मयजननी ॥ ५ ॥

र्काह नाथ विमलं मुखबिम्बं
तावकं समवलोकयितास्मि ।
यत्स्रवत्यमृतपूरमपूर्वं
यो निमज्जयति विश्वमशेषम् ॥ ६ ॥

हे नाथ ! मैं आप के विमल मुखमण्डल—सर्वोत्कृष्ट शाक्तस्वरूप का कब साक्षात्कार करूँगा, जो कि अलौकिक चिदानन्दरूपी अमृत की धारा बहाता है, जिसमें यह सारा विश्वप्रपञ्च निमग्न रहता है ॥ ६ ॥

व्युत्थानावस्थितस्येयमुक्तिः । र्काह नाथ ! विमलं मुखबिम्बं—परं शाक्तं रूपं तव समवलोकयितास्मि—साक्षात्करिष्यामि । अमृतपूरम्—आनन्दप्रसरमपूर्वम्—अलौकिकम् । लोकयितृलोक्यरूपं विश्वं निमज्जयति ॥ ६ ॥

ध्यातमात्रमुदितं तव रूपं
र्काह नाथ परमामृतपूरैः ।
पूरयेत्त्वदविभेदविमोक्षा-
ख्यातिदूरविवराणि सदा मे ॥ ७ ॥

हे शरणद ! मेरे द्वारा आप का शाक्तोपाय प्रक्रिया से चिन्तन करने मात्र से ही आप का चित्स्वरूप अभिव्यक्त हो जाता है; वह प्रकट हुआ आप का चित्स्वरूप सर्वोत्कृष्ट अमृत की धाराओं से आप के अविभेद-अद्वैतात्मक विमुक्ति अप्रथारूपी गहन विवरों को अर्थात् सांसारिक इच्छाओं को कब सदा के लिए आप्लावित करेगा । ७ ॥

त्वदविभेद एव विमोक्षः—भेदबन्धापगमः। तस्य अख्यातिः—अप्रथा, तदीयानि दूराणि विवराणि—गहनान्याकाङ्क्षामयानि गर्तानि, कर्हि—कदा मे ध्यातमात्रमुदितं—चिन्तनानन्तरमेव विकसितं सत् तव संबन्धि रूपं—कर्तृ, सदा परमामृतपूरैः—आनन्दविसरैः, पूरयेत्—आप्लावयेत् ॥ ७ ॥

त्वदीयानुत्तररसासङ्गसन्त्यक्तचापलम् ।
नाद्यापि मे मनो नाथ कर्हि स्यादस्तु शीघ्रतः ॥ ८ ॥

हे शरणागतवत्सल देव ! मेरा मानस आज भी आप के अनुत्तर चिदानन्दरस के संपर्क से अच्छी तरह चाञ्चल्यभाव नहीं छोड़ पाता है, यह बता दो कि वह कब छोड़ेगा ? और यह अविलम्ब ही हो । इस प्रकार प्रगाढ उत्कण्ठा का संकेत मिलता है ॥ ८ ।

त्वदीयोऽनुत्तरो रसः—परचित्प्रसरः, तदासङ्गः—तत्परत्वं, तेनापि सन्त्यक्तचापल — गलितव्युत्थानम्, अद्यापीति — असकृदास्वादितेऽपि समावेशे । कर्हि शीघ्रं स्यात्—इति गाढोत्कण्ठापरत्वं सूचयति ॥ ८ ॥

मा शुष्ककटुकान्येव परं सर्वाणि सर्वदा ।
तवोपहृत्य लब्धानि द्वन्द्वान्यप्यापतन्तु मे ॥ ९ ॥

हे परमशिव ! समस्त रागद्वेषात्मक द्वन्द्वसमूह आप के अद्वैत-अमृतचमत्काररस से रहित होने से शुष्क अर्थात् कटु ही है । इसलिये ये मेरे पास कभी भी न आएँ यदि कदाचित् आ भी जाते हैं तो भले ही ये जोड़े आएँ ॥ ९ ।

तवोपहृत्य लब्धानि—चिन्मयत्वेन त्वय्यनुप्रविश्य व्युत्थाने समावेश-सस्काररसास्वादनासादितानि, परं सर्वकालं सर्वाणि द्वन्द्वानि—शीतोष्णादीन्यपि आपतन्तु, शुष्ककटुकान्येव—पुनस्त्वदद्वयस्पर्शामृतापूर्णत्वाद्रूक्ष दुःस्वादप्रायाणि मा-मैवम् ॥ ९ ॥

नाथ साम्मुख्यमायान्तु विशुद्धास्तव रश्मयः ।
यावत्कायमनस्तापतमोभिः परिलुप्यताम् ॥ १० ॥

हे नाथ ! आप की विशुद्ध—अनुग्रहस्वरूपिणी अघोरशक्तियाँ मेरे अभिमुख आ जाएँ अर्थात् चित्स्वरूप दर्शन के मार्ग पर प्रकाशमान बनी रहें और वे सब उस काल तक रहे जब तक कि शारीरिक, मानसिक संतापरूपी अन्धकार भलीभाँति विलुप्त न हो जाय ॥ १० ॥

साम्मुख्यमायान्तु—देहादिप्रथां निमज्ज्य प्रस्फुरन्तु। शुद्धाः—अनुग्रहपराः, रश्मयः—शक्तयः। कायमनस्तापतमोभिरिति—कायमनस्तापा एव तमांसि, तैः परिलुप्यतां—समन्तान्नश्यताम् ॥ १० ॥

देव प्रसीद यावन्मे त्वन्मार्गपरिपन्थिकाः।
परमार्थमुषो वश्या भूयासुर्गुणतस्कराः ॥ ११ ॥

हे देवाधिदेव! आप के पारमार्थिक पथ में अवरोध उत्पन्न करनेवाले—परमार्थस्वरूप को छीननेवाले ये सत्त्वादि गुणसमूहरूपी तस्कर जब तक मेरे वशीभूत न हो जायें, तब तक आप मुझ किंकर पर प्रसन्न रहिये ॥ ११ ॥

प्रसादः प्राग्वत्। त्वन्मार्गपरिपन्थिकाः—परमार्थशाक्तभूमिप्रवेशरोधिनः, अत एव परमार्थं—चिदभेदं मुष्णन्ति—अपहरन्ति, अनुपभोग्यं सम्पादयन्ति ये गुणाः—सत्त्वादय एव तस्कराः, ते वश्या भूयासुः। तदुक्तं

'गुणादिस्पन्दनिःष्यन्दा.........।
...... स्युर्ज्ञस्यापरिपन्थिनः' ॥ स्पं०, नि० १, श्लो० १९ ॥

इति। 'प्रसीद, भूयासुः'—इति लोड्लिङौ सम्भूय आशीर्विशिष्टां प्रार्थनां गमयतः। यथा लुनीहि लुनीहि—इत्यादौ लोड्वचने कर्मव्यतिहारात्। एवमन्यत्रापि स्मर्तव्यम्। स्वामिनि प्रसन्ने चौरा वश्या भवन्तीति लौकिकोऽर्थः स्पष्ट एव ॥ ११ ॥

त्वद्भक्तिसुधासारैर्मानसमापूर्यतां ममाशु विभो।
यावदिमा उह्यन्तां निःशेषासारवासनाः प्लुत्वा ॥ १२ ॥

हे सर्वव्यापक देव! मेरा मानस आप की भक्तिरूपी अमृत धाराओं से शीघ्र ही भर जाय, जिससे कि ये समस्त सारहीन सांसारिक वासनाएँ जल कर भस्मीभूत हो जायें ॥ १२ ॥

मानसं—चित्तं सरश्च। असाराः—कुत्सिताः, सरस्यपि असारैः पूरिते, असारवासनाः—कदूदकवासनाः प्लुत्वा—उत्प्लुत्य स्वयमेव उह्यन्ते—बहिर्निसरन्ति ॥ १२ ॥

मोक्षदशायां भक्ति-

स्त्वयि कुत इव मर्त्यधर्मिणोऽपि न सा ।

राजति ततोऽनुरूपा-

मारोपय सिद्धिभूमिकामज माम् ।। १३ ।।

हे अज ! जन्म-मरणधर्म वाले मनुष्य को मुक्ति की अवस्था पर पहुँचने के लिये आप की भक्ति कैसे मिल पायेगी ? वह भक्ति साधक के हृदय में प्रकाशित नहीं होती है, इसलिये आप उस समावेशात्मिका भक्ति के अनुरूप पराशक्तभूमिका पर मुझ किंकर को ले जाइये ।। १३ ।।

मोक्षदशा—परमशिवता, जीवन्मुक्तता मुक्तप्रायता । यदनेनैवोक्तं 'तस्यामाद्यदशारूढा मुक्तकल्पा वयं ततः' शिव० स्तो०, स्तो १६, श्लो० १६ । इति । मर्त्यधर्मिण इति—अप्रत्यभिज्ञातात्मस्वरूपस्य । अनुरूपामिति—प्राग्वद्रुद्रशक्तिसमावेशमयीम् । परमसिद्धिभूमिं—तत्रैव प्रभुदासभावस्य स्फुटं स्फुरणात् ।। १३ ।।

सिद्धिलवलाभलुब्धं

मामवलेपेन मा विभो संस्थाः ।

क्षामस्त्वद्भक्तिमुखे

प्रोल्लसदणिमादिपक्षतो मोक्षः ।। १४ ।।

हे विभो ! मुझ किंकर को मिथ्याभिमान के मायीय भेदात्मिक अणिमादि सिद्धियों के लाभ के निमित्त लुब्ध कभी-भी न कीजिये; क्योंकि बाह्य चमक-दमक वाली अणिमादि अष्टसिद्धियों के आधार पर मोक्ष आप की विमल भक्ति के सामने कुछ भी नहीं है ।। १४ ।।

समावेशात्मकपूर्णसिद्ध्यपेक्षया भेदमयाणिमादयः सिद्धिलवास्तल्लाभे लुब्धं मा संस्थाः । अवलेपेनेति—मां सिद्धिलवलुब्धमाकलय्य मावलेपं कुर्या इति यावत् । ननु पारमेशे नये साधकानां सिद्ध्युपभोगानन्तरं

......'भुक्त्वा भोगांश्छिवं व्रजेत् ।'

इत्याम्नायेषु शिवतैव श्रूयते, तत्किमत्रारुचिरित्याशङ्क्य युक्तिमाह—प्रोल्लसदणिमादिपक्षादनन्तरं कालान्तरे यो मोक्षस्त्वद्भक्तिमुखे—त्वत्समावेशानन्दस्य पुरतः, क्षामः—अत्यल्पः ।। १४ ।।

दासस्य मे प्रसीदतु
भगवानेतावदेव ननु याचे ।
दाता त्रिभुवननाथो
यस्य न तन्मादृशां दृशो विषयः ।। १५ ।।

हे परमशिव ! वस्तुतः मैं तो इतनी ही प्रार्थना करता हूँ कि आप परमशिव मुझ दास पर प्रसन्न रहें । जो मोक्षधर्मरूपी महाफल को देनेवाले इस त्रिलोकी का स्वामी है, वह मेरे जैसे लोगों की दृष्टि का विषय कैसे हो सकता है ? ।। १५ ।।

एतावदिति—न तु अणिमादि । प्रसीदतु इति । त्रिभुवनं प्राग्वत् । यस्येति—असम्भाव्य [सम्भावितस्य] फलस्य, तत्फलं-सदृशम्, इति न मादृशां दृश इति—बुद्धेः ।। १५ ।

त्वद्वपुःस्मृतिसुधारसपूर्णे
मानसे तव पदाम्बुजयुग्मम् ।
मामके विकसदस्तु सदैव
प्रस्रवन्मधु किमप्यतिलोकम् ।। १६ ।।

हे शरणद ! आप के चित्स्वरूप के स्मरणरूपी सुधारस से परिपूर्ण मेरे मानस में आप के विमल चरण-कमलों का जोड़ा कुछ विलक्षण मधु को बहाते हुए नित्य-निरन्तर विकसित रहे अर्थात् मायीय भेदात्मक संकीर्णता की निवृत्ति करता रहे ।। १६ ।

पादाम्बुजयुग्मं प्राग्वत् । विकसद्—भेदसंकोचमुज्झत् । मधु—परमानन्दरूपं माधुर्यम् । अतिलोकम्—अलौकिकम् । रसपूर्णे च मानसे अम्बुजं विकसन्मधु स्रवति ।। १६ ।।

अस्ति मे प्रभुरसौ जनकोऽथ
त्र्यम्बकोऽथ जननी च भवानी ।
न द्वितीय इह कोऽपि ममास्ती-
त्येव निर्वृततमो विचरेयम् ।। १७ ।।

सम्प्रति यह त्र्यम्बकनाथ भगवान् परमशिव मेरा पिता है और भगवती भवानी मेरी माता है। अतएव इस संसार में मेरा कोई भी नहीं है, मैं केवल इतने से ही प्रसन्न हो कर विचरण करता हूँ ॥ १७ ॥

इति श्रीसर्वदर्शनाचार्यश्रीकृष्णानन्दसागरकृत-हिन्दीव्याख्या-स्तवरञ्जनी।

असाविति—चिद्घनो मे प्रभुः—अनुग्राहकः जनकः, प्रमातृतोल्लासकश्च त्र्यम्बकः। तथा भवानी—पराशक्तिः जननी प्रश्वी चारित। ईदृशस्यैव प्रत्यभिज्ञातमहेश्वरस्वरूपस्य मे इह—जगति न द्वितीयः कोऽप्यस्ति। ममेति शेषे षष्ठी। इत्येव—एतावतैव। निर्वृततमः—अत्यर्थं प्रमुदितो विचरेयं—विहरेयमिति शिवम् ॥ १७ ॥

इति श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचितस्तोत्रावलावुद्योतनाभिधानैकोनविंशे स्तोत्रे श्रीक्षेमराजाचार्यविरचिता विवृतिः ॥ १९ ॥

अथ

विंशं स्तोत्रम्

नाथं त्रिभुवननाथं भूतिसितं त्रिनयनं त्रिशूलधरम् ।
उपवीतीकृतभोगिनमिन्दुकलाशेखरं वन्दे ॥ १ ॥

मैं त्रिभुवन के स्वामी, विश्वमयी विभूति से गौरवर्ण, त्रिनयन, इच्छा-ज्ञान एवं क्रियारूपी नेत्रवाले, सर्परूपी यज्ञोपवीत को कण्ठ देश में धारण करनेवाले एवं चन्द्र-कला को सिर पर धारण करने वाले को मैं स्वामी प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥

त्रिभुवनं प्राग्वत्—भूतिः—विश्वमयी विभूतिः, तया सितं—सम्बद्धं षिञ् बन्धने इत्यस्य सितशब्दः । त्रीणि—इच्छाज्ञानक्रियाख्यानि नयनानि यस्य । भेदोद्दलनहेतोः प्रज्वलद्‌ज्ञान रूपस्य त्रिशूलस्य धारकम् । उप—समीपे वीतीकृताः—विशेषेणेताः कृताः—अनुगृहीताः, तथा बहिः पूजानिरताः आभासनेन कान्तिमन्तः कृताः संहृताश्च भोगिनः प्रसरा येन, वी गताविति्यस्य प्रयोगः । इन्दुकला—विश्वजीविनी चिति शक्तिः शेखरं—मुख्यं रूपं यस्य । समग्रमेयमयी इन्दुकला वा स्वातन्त्र्यप्रथनहेतुत्वात् । शेखरः—क्रोडार्थमाहार्यं मण्डनं यस्य, तं वन्दे—इति प्राग्वत् । बाह्यक्रमेण स्पष्टोऽर्थः ॥ १ ॥

नौमि निजतनुविनिस्सरदंशुकपरिवेषधवलपरिधानम् ।
विलसत्कपालमालाकल्पितनृत्तोत्सवाकल्पम् ॥ २ ॥

अपने चित्स्वरूप से निकलने वाले रश्मिपुञ्जरूपी श्वेत परिधान को धारण करता है और ताण्डव नृत्यरूपी महोत्सव काल में चमकती हुई मुण्डमाला से सुशोभित करता है, ऐसे ताण्डव प्रिय परमशिव को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २ ॥

निजतनुः—चिन्मयं रूपं, ततो विनिःसरन् —स्फुरन् अंशुकपरिवेषः—रश्मिपुञ्जप्रसर एव धवलं —शुद्धं परिधानं—प्रावरणं यस्य

...............'उत्सरत्प्रकृतिः शिवः' ।

इति स्थितया स्वशक्तिचक्रेण सततमाश्लिष्टमित्यर्थः। विकसन्त्या—स्वात्मनियोजनेन देदीप्यमानतया विलसन्त्या—स्फुरन्त्या कपालमालया सदाशिवादिसकलान्ताशेषप्रमातृमुण्डमालया कल्पितो नृत्तोत्सवे—स्वातन्त्र्यविजृम्भाभ्युदय आकल्पो मण्डनं येन। बाह्यक्रमेण स्पष्टोऽर्थः ॥ २ ॥

वन्दे तान् दैवतं येषां हरचेष्टा हरोचिताः।
हरैकप्रवणाः प्राणाः सदा सौभाग्यसद्मनाम् ॥ ३ ॥

मैं उन लोगों की सदैव वन्दना करता हूँ, परमानन्दपूर्ण होने से सौभाग्यशाली जिन भक्तजनों का देवता हर है और जिनकी प्रत्येक चेष्टा भगवान् हर की प्राप्ति के लिये हुआ करती है तथा जिनका सारा जीवन हर की भक्तिभाव में ही व्यतीत होता है ॥ ३ ॥

हरोचिताः—सृष्टिसंहारानुग्रहादिरूपाः। हरैकप्रवणाः—नित्यतत्समावेशरसिकाः। प्राणाः—जीवितम्। अत एव सौभाग्यसद्मत्वं—परमानन्दपूर्णत्वेन विश्वस्पृहणीयत्वात् ॥ ३ ॥

क्रीडितं तव महेश्वरतायाः पृष्ठतोऽन्यदिदमेव यथैतत्।
इष्टमात्रघटितेष्ववदानेष्वात्मना परमुपायमुपैमि ॥ ४ ॥

हे परमशिव ! आप की महेश्वरता के साथ ही यह दूसरा क्रीडा देखने में आती है, जैसे कि मैं केवल इच्छा से ही सघटित-सिद्ध विलक्षण कर्मों के संपादन में अपने से ही सहज उपाय प्राप्त करता हूँ अर्थात् चित्समावेशभाव से ही सहजतया मैं पञ्चकृत्यकारी हो जाता हूँ और यही आप की दूसरी लीला है ॥ ४ ॥

समावेशस्फारेण जगत् क्रीडात्वेन पश्यत इयमुक्तिः। तव महेश्वरतायाः—विश्वप्रभुतायाः पृष्ठत एव—उपर्येव अन्यदिदं क्रीडितम्। यथैतदिति—प्रदर्शनार्थम्, इष्टमात्र—घटितेषु—इच्छामात्रसम्पन्नेषु अवदानेषु—अद्भुतकर्मसु त्वदीयपञ्चविधकृत्यात्मसु चरितेषु, अहमात्मना—स्वयमेव परिपूर्णमुपाय स्वबलाक्रमणमुखेऽपि प्राप्नोमि, त्वत्समावेशात् स्वं चिद्बलमाक्रम्य त्वद्वदहं पञ्चविधकृत्यकारी यत् तत्तवापरं क्रीडितमित्यर्थः। एवकारो भिन्नक्रमः ॥ ४ ॥

त्वद्धाम्नि विश्ववन्द्येऽस्मिन्नियति क्रीडने सति ।
तव नाथ कियान् भूयान्नानन्दरससम्भवः ।। ५ ।।

हे त्रिनयन ! सारे जगत् में पूजे जाने योग्य आप के प्रकाशस्वरूप-परम धाम में जब इतनी समस्त ब्रह्माण्ड की रचनारूपिणी यह लीला है तो कहो कि आपके आनन्द-रस की उत्पत्ति कितनी बड़ी होगी ? ।। ५ ।।

विश्ववन्द्यं यत्त्वद्धाम—त्वन्महः, तत्रान्तर् इयति—विश्वात्मन्यस्मिन् क्रीडने सति, तव कियान् भूयानिति—अनल्पः स्वानन्दरसानुरूपमेव सर्वः क्रीडति ? यस्य चेयद्विश्वं क्रीडा तस्य अपर्यन्त एवानन्दः, इति स्वात्मनस्तद्रसतया श्लाघां व्यनक्ति । अत एव नाथेत्यामन्त्रणम् ।। ५ ।।

कथं स सुभगो मा भूद्यो गौर्या वल्लभो हरः ।
हरोऽपि मा भूदथ किं गौर्याः परमवल्लभः ।। ६ ।।

जो चिदानन्दघन शिव गौरी का प्रिय है, वह क्यों नहीं सुभग-सौभाग्यशाली होगा ? और हर भी गौरी का प्राण से अधिक प्रिय क्यों नहीं होगा ? ।। ६ ।।

सुभगः—सर्वस्य स्पृहणीयः । गौर्याः—परस्याः शक्तेः, वल्लभः—स्पृहणीयः स आनन्दघनः पराभट्टारिकयालिङ्गित इत्यर्थः । हरः —समावेशचमत्कारेण हृदयहारी द्वैतपदस्य संहर्ता च यः, परशक्तेः परमवल्लभ एव ।। ६ ।।

ध्यानामृतमयं यस्य स्वात्ममूलमनश्वरम् ।
संविल्लतास्तथारूपास्तस्य कस्यापि सत्तरोः ।। ७ ।।

जिस सच्चिदानन्दरूपी वृक्ष कीस वात्मा का मूलकारण ध्यानामृतमय अविनाशी परमात्मा हो, उस अलौकिक चिद्रूप वृक्ष की संविद्रूपिणी लताएँ भी वैसी ध्यानामय और परिपूर्ण होती हैं ।। ७ ।।

यस्य—समावेशशालिनः स्वात्मनो मूलं—कारणं ध्यानामृतमयं—स्वरूपगोपनोन्मुखचिदानन्दसारप्रत्यभिज्ञातशिवभट्टारकस्वरूपम् । यथोक्तं

'अस्ति मे प्रभुरसौ जनकोऽथ'............ ।

शि० स्तो०, स्तो० १६, श्लो० १७ ।।

इत्यादि । अनश्वरं—चिद्रूपतयैव नित्यं, तस्य—कस्याप्यतिदुर्लभस्य सत्तरोः—सन्तापहारिणः शोभनपादपस्य संविल्लताः—नीलसुखादिज्ञानानि, तथारूपा इति—ध्यानामृतमय्य एव ।। ७ ।।

भक्तिकण्डूसमुल्लासावसरे परमेश्वर ।
महानिकषपाषाणस्थूणा पूजैव जायते ॥ ८ ॥

हे परमेश्वर ! भक्तिरूपिणी खुजली के सम्मुल्लास के अवसर में चित्समावेशात्मक पूजारूपी कसौटी के प्रस्तरखण्डों का विशाल तम्भ उत्पन्न हो जाता है और तम्भ अपने घर्षण से खुजली को शान्त कर देता है अर्थात् जैसे तम्भ आदि के साथ घर्षण करने से खुजली शान्त हो जाती है। वैसे ही शिव की उद्रिक्तभक्ति से चरम सीमा तक पहुँच जाने पर योगी चिदानन्दस्वरूप में विश्रान्ति पा लेता है ॥ ८ ॥

भक्तिः—भगवदनुराग एव वैवश्यदायित्वात् कण्डूस्तस्याः समुल्लासे पूर्वनिर्णीता पूजैव महानिकषपाषाणस्थूणा—निघर्षोपलमयो महास्तम्बः, भक्तिकण्डूं यः प्रशमय्य आनन्दघनस्वात्मविश्रान्तिहेतुर्जायते इत्यर्थः ॥ ८ ॥

सदा सृष्टिविनोदाय सदा स्थितिसुखासिने ।
सदा त्रिभुवनाहारतृप्ताय स्वामिने नमः ॥ ९ ॥

जो सदैव इस विश्व की सृष्टि विनोद-आनन्द के लिये करता है, जो सदैव इसका पालन करके सुखपूर्वक बैठा है एवं जो सदैव त्रिलोकी के संहाररूपी आहार करके अपने स्वरूप में तृप्त हो कर स्थित है, ऐसे स्वामी शिव को हम नमस्कार करते हैं ॥ ९ ॥

'तदेवं व्यवहारेऽपि प्रभुर्देहादिमाविशन् ।
भान्तमेवान्तरर्थौघमिच्छया भासयेद्बहिः ॥'

ई० प्र०, १ अ०, ६ आ०, ७ का० ॥

इति स्थित्या देहादिमाविशतोऽपि भगवतः प्रतिक्षणं तत्तदनन्तग्राह्यग्राहकाद्याभाससंयोजनवियोजनक्रमेण सृष्ट्यादिहेतुत्वम् । यथा चैतत्तथा मया स्पन्दसन्दोहे वितत्य निर्णीतमिति स एवावेक्ष्यः ॥ ९ ॥

न क्वापि गत्वा हित्वापि न किंचिदिदमेव ये ।
भव्यं त्वद्धाम पश्यन्ति भव्यास्तेभ्यो नमो नमः ॥ १० ॥

जो भक्तवृन्द किसी एकान्त-द्वादशान्तादि स्थान विशष में न जा कर ही तथा हेय-उपादेय आदि किसी कर्म को न छोड़ कर ही इस संसार को ही आप के दिव्यधाम के रूप में देखते हैं, उनको हम नमस्कार करते हैं ॥ १० ॥

एकान्तद्वादशान्तादिपदं परमलोकं चागत्वा, भोगानधरभूमीः शरीरं चात्यक्त्वा इदमेव—अप्रबुद्धानां हेयाभिमतं भव्यं त्वद्धाम चिद्घनं ये पश्यन्ति, भव्याः—दिव्यमहार्थदृष्ट्याविष्टास्तेभ्यो नमो नमः; वीप्सयैषामेव परतत्त्ववित्त्वं ध्वनति ॥ १० ॥

भक्तिलक्ष्मीसमृद्धानां किमन्यदुपयाचितम् ।
एतया वा दरिद्राणां किमन्यदुपयाचितम् ॥ ११ ॥

भक्तिरूपी सम्पदा से सम्पन्न भक्तजनों के लिए दूसरी वस्तु क्या माँगने योग्य है ? और जो इससे रहित दरिद्रनारायण है उनके लिए ऐसा शिव भक्ति के अतिरिक्त अन्य क्या माँगने योग्य है ? ॥ ११ ॥

किमन्यदिति—प्राप्तव्यस्य प्राप्तत्वात् नास्त्येव अन्यद्याचितव्यम् । किमन्यदिति—परमार्थस्यानासादनात् किमन्येनासारप्रायेणेत्यर्थः ॥ ११ ॥

दुःखान्यपि सुखायन्ते विषमप्यमृतायते ।
मोक्षायते च संसारो यत्र मार्गः स शाङ्करः ॥ १२ ॥

जिस शाक्तपद पर पहुँचने पर दुःखसमूह भी सुख रूप हो जाते हैं, विष भी अमृत बन जाते हैं और यह विश्व भी मुक्तिकी प्राप्ति का साधन हो जाता है, यही परमशिव का परमार्थिक पथ है ॥ १२ ॥

त्रयमप्येतच्चिदानन्दघननिजबलाक्रमणादेव भवति । मार्गः—परं शाक्तं पदम् ॥ १२ ॥

मूले मध्येऽवसाने च नास्ति दुःखं भवज्जुषाम् ।
तथापि वयमीशान सीदामः कथमुच्यताम् ॥ १३ ॥

हे ईशान ! आप के भक्त लोगों को मूल में, मध्य में एवं अवसान में अर्थात् ज्ञान के उत्पन्न, विस्तार एवं विश्रान्तिकाल में दुःख नहीं होता है, फिर भी हम कष्ट सहते हैं, यह कैसी बात है ? कहिये ॥ १३ ॥

प्राग्वत् व्युत्थानावस्थितस्योक्तिः । मूले मध्येऽवसाने इति—संविदुदयप्रसरविश्रांतिषु । सीदामः—व्युत्थानेनाभिभूयामहे ॥ १३ ॥

ज्ञानयोगादिनान्येषामप्यपेक्षितुमर्हति ।
प्रकाशः स्वैरिणामेव भवान् भक्तिमतां प्रभो ॥ १४ ॥

हे प्रभो ! अन्य लोगों के लिए आप ज्ञान, योग एवं क्रिया आदि उपायों की भी अपेक्षा करने के योग्य होते हैं। किन्तु सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र स्वेच्छाचारी भक्तजनों के लिये तो आप का स्वरूप प्रकाशमान ही रहता है ॥ १४ ॥

प्रभो ! केषांचित् ज्ञानयोगक्रियाद्युपायैर्भवान् स्फुरति, भक्तानां पुनः स्वैरिणाम् - उपायानपेक्षिणां त्वत्समावेशात् प्राप्तत्वन्महिम्नां च भवान् प्रकाशस्वभावः सदेति यावत् ॥ १४ ॥

भक्तानां नार्तयो नाप्यस्त्याध्यानं स्वात्मनस्तव ।
तथाप्यस्ति शिवेत्येतत्किमप्येषां बहिर्मुखे ॥ १५ ॥

आप के भक्तजनों को न तो क्लेश ही होते हैं और न चित्स्वरूप की प्राप्ति की चिन्ता ही रहती है, फिर भी चिदानन्द से अभेदभावना का सूचक अलौकिक 'हे शिव' ऐसा शब्द व्युत्थानदशा में इन भक्तों के मुख में सदैव रहता है अर्थात् 'शिव' यह लोकपावन नाम सदैव मुख से जप के रूप में उच्चरित होता रहता है ॥ १५ ।

आर्तयः—क्लेशाः । आध्यानं—प्राप्त्यभिलाषेण चिन्तनम् । तव स्वात्मन इति—स्वात्मतयैव स्फुरतः । तथापीति—भक्तत्वादेव । किमपीति—परमानन्दैकात्म्यव्यञ्जकं निर्निमित्तं च ॥ १५ ॥

सर्वाभासावभासो यो विमर्शवलितोऽखिलम् ।
अहमेतदिति स्तौमि तां क्रियाशक्तिमीश ते ॥ १६ ॥

हे ईश ! मैं ही सब रूप में विद्यमान हूँ, ऐसा जो सारे आभासों का अवभास विमर्श—स्वात्मपरामर्शरूप परमानन्दचमत्कार से समलंकृत है, उसी आप अहंपरामर्श-रूपिणी क्रियाशक्ति की मैं स्तुति करता हूँ ॥ १६ ॥

अहमेतदखिलमिति यः सर्वाभासावभासः—सदा विश्वेश्वरप्रकाशः । कीदृक् ? विमर्शेन—परमानन्दचमत्कारेण वलितो—वृतः, क्रियाशक्तिम्—ईशशक्तिम्, ईश ते स्तौमि—इति प्राग्वत् ॥ १६ ॥

वर्तन्ते जन्तवोऽशेषा अपि ब्रह्मेन्द्रविष्णवः ।
ग्रसमानास्ततो वन्दे देव विश्वं भवन्मयम् ॥ १७ ॥

हे देव ! इस विश्वप्रपञ्च में समस्त क्षेत्रज्ञ आदि जीव, सृष्टिकर्ता ब्रह्मा, शासनकर्ता इन्द्र और पालनकर्ता विष्णु आदि देवलोग भी अपने-अपने विषयों का आहार करने में लगे हुए ही प्रतीत होते हैं। इसी से मैं आप शिवस्वरूप विश्वात्मा को नमस्कार करता हूँ ॥ १७ ॥

अपि ब्रह्मेन्द्रविष्णव इति—सृष्टिस्थितिकारिणः प्रसिद्धाः। आसतां रुद्रादयः, तेऽपि यावदशेषा जन्तवः—क्षेत्रज्ञाः ग्रसमानाः सदा स्वविषयाहृतिप्रवणा वर्तन्ते—तिष्ठन्ति यतो हे देव - अशेषप्रमात्रादिरूपेण क्रीडाशील ! ततो विश्वं भवन्मयं विश्वं—ग्रसनशीलत्वदद्वयरूपं वन्दे—प्राग्वत् ॥ १७ ॥

सतो विनाशसम्बन्धान्मत्परं निखिलं मृषा ।
एवमेवोद्यते नाथ त्वया संहारलीलया ॥ १८ ॥

हे शरणद शिव ! विश्व के संहार करने की लीला-कौतुक द्वारा आप से इसी बात की सूचना मिलती है कि सभी विद्यमान वस्तुओं के विनाश होने के कारण मेरे सिवा यह सारा लोक व्यवहार मिथ्या ही है ॥ १८ ॥

हे नाथ ! संहारक्रीडया एवमेवोच्यते—मत्तः—चिदेकरूपात्परमुल्लासितस्वभावत्वादधिकमिव यत्किंचित् सदाशिवान्तं तन्मृषा—न पृथग्भवतीत्यर्थः; यतः सतः—अनधिकस्याप्याधिक्येन इव आभासमानस्य विनाशेन सम्बन्धाच्चिदात्मन्येव विगलितत्वेन स्थितिर्भवति। तदुक्तं

'यत्सदाशिवपर्यन्तम्.........।' स्व० तं०, प० १०, श्लो० १२६४ ॥

इत्यादि

'विनाशोत्पत्तिसंयुतम् ॥' स्व० तं०, प० १०, श्लोक १२६५ ॥

इत्यन्तम्। तथा

'कार्यताक्षयिणी तत्र......।' स्पं० नि० १, श्लो० १४ ॥

इत्यादि ॥ १८ ॥

ध्यातमात्रमुपतिष्ठत एव
त्वद्वपुर्वरद भक्तिधनानाम् ।
अप्यचिन्त्यमखिलाद्भुतचिन्ता-
कर्तृतां प्रति च ते विजयन्ते ॥ १९ ॥

हे वरद ! परिमितसिद्धि सम्पन्न अल्पज्ञ योगी लोगों से आपका स्वरूप अचिन्त्य होता हुआ भी आप के स्वरूप का स्मरण करने मात्र से ही भक्तों के हृदय में आप प्रकट हो जाते हों । अत एव भक्तलोग ध्यानादि विस्मयकारी कार्यों के संपादन में अन्य लोगों की अपेक्षा बड़े तेजस्वी होते हैं । १९ ॥

मितयोगिभिश्चिन्तयितुमशक्यमपि यत्स्वरूपं भक्तिधनानां ध्यातमात्र मुपतिष्ठते —ध्यानसमनन्तरमेव सन्निधीयते इत्यर्थः । ते च भक्ताः अखिलायाः अद्भुतचिन्तायाः कर्तृतां प्रति विजयन्ते—त एवासामान्यविस्मयप्रवर्तकाः सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते इत्यर्थः ॥ १९ ॥

तावकभक्तिरसासवसेकादिव सुखितमर्ममण्डलस्फुरितैः ।
नृत्यति वीरजनो निशि वेतालकुलैः कृतोत्साहः ॥२०॥

हे परमात्मन् ! आपकी भक्ति के रसचमत्काररूपी मधु के सेचन से सुखी बने हुए पाशसमूह के कारण चमकते हुए इन्द्रियरूपी वेतालों के कुलों से उत्साहित हो कर संसाररूपी पामर प्राणियों की हत्या करने वाले शूरवीर भक्तलोग मायारूपिणी रात्रि में ही नाचने लग जाते हैं ॥ २० ॥

बाह्योऽर्थः स्पष्टः वीरजनः—विदारितसंसारमहापशुः भक्तजनो निशि—मायामध्य एव, नृत्यति—चिद्विकासेन विलसतितराम् । कथं ? तावकभक्तिरसासवसेकात्—त्वत्समावेशामृतसेचनादिव, सुखितानि—आनन्दवन्ति यानि मर्ममण्डलानि —पाशसञ्चयास्तेषां संबन्धिभिः स्फुरितैः—आसनमुद्राबन्धैः वेतालकुलैः—पशुहृदयाघट्टकप्रत्ययोदयानुवर्तिशक्तिशतैः कृतोत्साहः—परिपोषितचिदभ्युदयः ॥ २० ॥

आरब्धा भवदभिनुतिरमुना येनाङ्केन मम शम्भो ।
तेनापर्यन्तमिमं कालं दृढमखिलमेव भविषीष्ट ॥२१॥

हे कल्याणकर देव ! चिदद्वयरूपी समावेश उत्कर्ष को दिखाने वाली जिस लोकोत्तर प्रकार से यह आप की स्तुति प्रारम्भ की गई है । इसी प्रकार दीर्घ कालपर्यन्त सुदृढभाव से मैं स्तुति करता रहूँ ॥ २१ ॥

इति श्रीसर्वदर्शनाचार्यश्रीकृष्णानन्दसागरकृत-हिन्दीव्याख्या-स्तवरञ्जनी ।

क्वचिदप्यसदृशशैलीदर्शनादनार्ष एवायं श्लोकस्तथापि व्याख्यायते। अमुना—चिदद्वयसमावेशोत्कर्षप्रदर्शिना, येनाङ्केन—सर्वजनासंलक्ष्येण प्रकारेण, शम्भो तव स्तुतिरारब्धा, तेन प्रकारेण अपर्यन्तमिममखिल कालं दृढम्—अविचलं कृत्वा असौ भविषीष्ट—प्राप्नुयात्। भू प्राप्तौ—इत्यस्य एतद्रूपमिति शिवम् ॥ २१ ॥

क्लेशान्विनाशय विकासय हृत्सरोज-
मोजो विजृम्भय निजं ननु नर्तयाङ्गम्।
चेतश्चकोरचितिचन्द्रमरीचिचक्र-
माचम्य सम्यगमृतीकुरु विश्वमेतत् ॥ १ ॥

श्रुतिपथमिता सूक्तिश्रेणी धुनोति भवातपं
निरुपमपरानन्दव्याप्तिं तनोति च तत्क्षणात्।
इयमिति विभोः शम्भोर्भक्त्या पर परमेष्ठिनो
विहितललितव्याख्यास्माभिः कृतार्थजनार्थितैः ॥ २ ॥

विश्वत्रयेऽपि विशदैरसमस्वरूपैः
शास्त्रैस्तथा विवरणैः प्रथितैव कीर्तिः।
तस्माद्गुरोरभिनवात्परमेशमूर्तेः
क्षेमो निशम्य विवृतिं व्यतनोदमुत्र ॥ ३ ॥

इति श्रीमदीश्वरप्रत्यभिज्ञाकाराचार्यचक्रवर्तिवन्द्याभिधानोत्पलदेवाचार्य-
विरचिते चर्वणाभिधाने विंशे स्तोत्रे महामाहेश्वर-
श्रीक्षेमराजाचार्यविरचिता विवृतिः ॥ २० ॥